आचार्य कमलशील विरचित
भावनाक्रम द्वितीय
भोटी-संस्करण एवं हिन्दी अनुवाद
སློབ་དཔོན་ཀཱ་མ་ལ་ཤཱི་ལས་མཛད་པའི
བསྒོམ་རིམ་བར་པ་ཧིན་བོད་ཤན་སྦྱར་
བཞུགས་སོ།།

हिमालय-बौद्ध संस्कृति ग्रन्थमाला-4
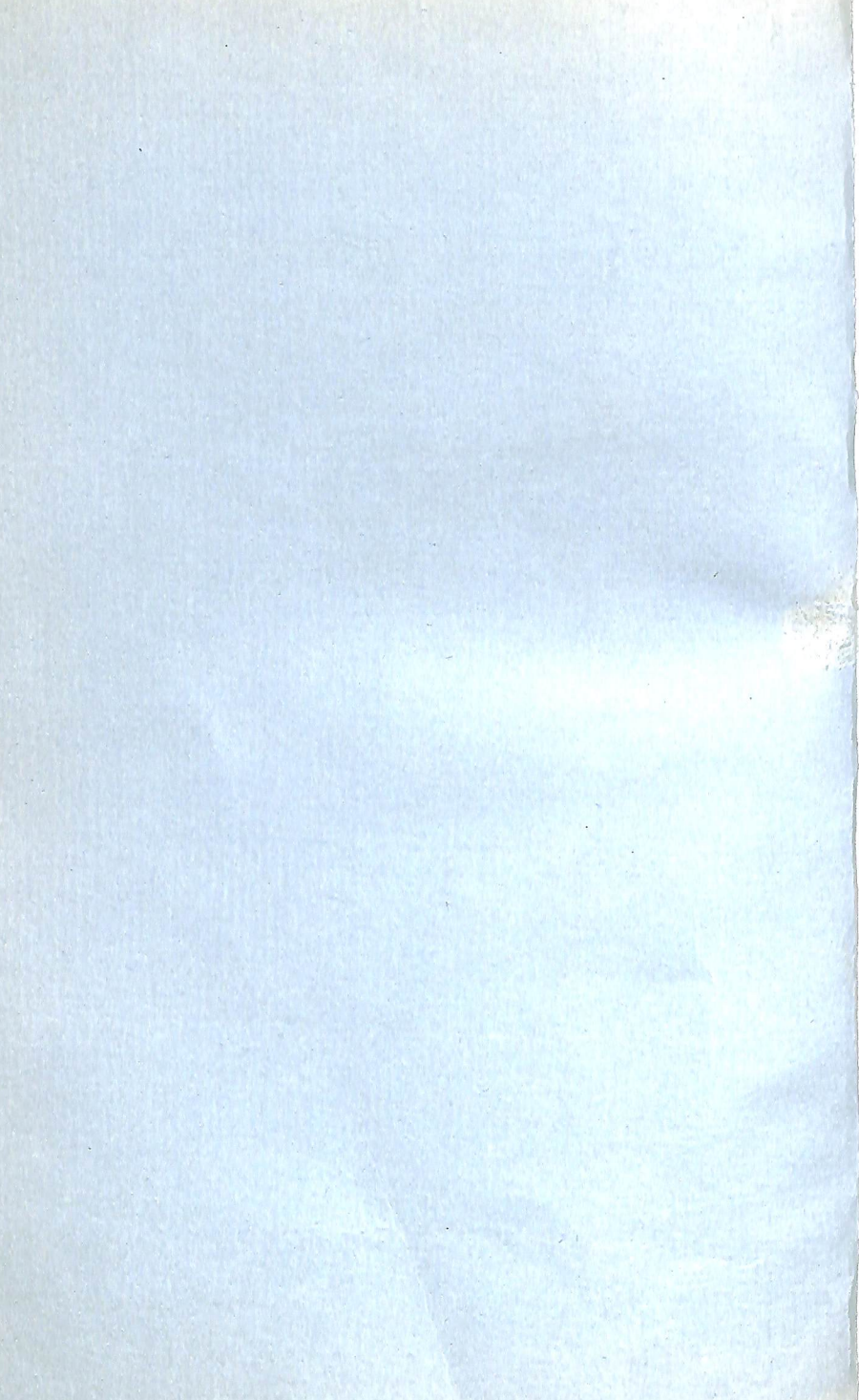
आचार्य कमलशील विरचित

भावनाक्रम (द्वितीय)

अनुवादक :
रोशन लाल नेगी बिष्ट

प्रकाशक :
लामा छोस्फेल जोदपा

अध्यक्ष :
हिमालय बौद्ध-संस्कृति संरक्षण सभा, दिल्ली

बुद्धब्द 2544 सन 2000

प्रथम संस्करण	1991	2,000	प्रतियां
द्वितीय संस्करण	1996	10,000	प्रतियां
तृतीय संस्करण	1996	10,000	प्रतियां
चतुर्थ संस्करण	2000	10,000	प्रतियां

मूल्यः 15 रू०

Ist Edition	1991	2000	Copies
2nd Edition	1996	10000	Copies
3rd Edition	1996	10000	Copies
4th Edition	2000	10000	Copies

प्रकाशक :

लामा छोस्फेल जोदपा
अध्यक्षः हिमालय बौद्ध-संस्कृति संरक्षण सभा
5, लद्दाख बौद्ध बिहार, बेला रोड़, देहली ।
दूरभाष : 3965323

Printed at :
SAGAR PRINTER, G-2 Akarshan Bhawan,
23, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110 002. Ph. 3201554

དཔར་བསྐྲུན་པའི་ཚེད་བརྗོད།

འཕགས་ཡུལ་གྱི་སློབ་དཔོན་ཆེན་པོ་པད་མའི་ངང་ཚུལ་གྱིས་མཛད་པའི་སྒོམ་རིམ་བར་པ་འདི་ནི། ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་སྒོ་སེམས་བསྐྱེད་ནས་མཇུག་རྣམ་མཁྱེན་རྒྱལ་བའི་གོ་འཕང་གི་བར། གང་ཟག་གཅིག་འཚང་རྒྱ་བའི་ལམ་གྱི་རིམ་པ་ཆ་ཚང་ལ། གོ་སླ་ཞིང་གློག་འཁྱེར་གྱི་འདུག་པ་བདེ་བར་བཞུགས་འདུག་པར། ཉེ་བའི་ལོ་ཤས་སྔོན་ཧི་མཱ་ལ་ཡའི་ཆོས་ཚོགས་ཀྱི་དྲུང་ཆེ་རོ་ཤན་ལྭལ་ནེ་གི་ལགས་ནས། ཧིན་སྐད་དུ་སྒྲ་སྒྱུར་མཛད་ཐོག འདི་ག་ཆོས་ཚོགས་ནས་ཧིན་བོད་ཤན་སྦྱར་དུ་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་ཏེ་དཔེ་དེབ་ཀྱི་ཚུལ་དུ་ཞུགས་ཡོད་པ་དེ་ཉིད་གཞིར་བཟུང་སྟེ།

སྤྱི་ལོ་༡༩༩༦ ལོར་ བྷང་གཱལ་མངའ་ཁོངས་ས་ལུ་ག་ར་རུ། ༧གོང་ས་སྐྱབས་མགོན་ཆེན་པོ་མཆོག་ནས་དུས་འཁོར་དབང་ཆེན་དཀའ་དྲིན་བསྐྱངས་སྐབས་སུ། ཧི་མཱ་ལ་ཡའི་ཆོས་རིགས་འཛིན་སྐྱོང་ཚོགས་པ་ནས་དཔར་ཐེངས་གཉིས་པ་དང་གསུམ་པ་དཔར་སྐྲུན་ཞུ་རྒྱུའི་གོ་སྐབས་བཟང་པོ་ཐོབ་པ་དང་།

ད་ལམ་སྲི་དེ་དཀྱིལ་དགོན་པར་ ༸གོང་ས་སྐྱབས་མགོན་ཆེན་པོ་མཆོག་ནས་དཔལ་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་དབང་ཆེན་སྩལ་སྐབས་དོན་གཉེར་ཅན་རྣམས་ལ་ཕན་པའི་མདུན་པས། སླར་ཡང་དེན་བོད་ཤན་སྦྱར་གྱི་ཚུལ་དུ་དཔར་ཐེངས་བཞི་བ་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་པ་ལགས་ན།

འདིར་འབད་རྣམ་དཀར་གྱི་དགེ་བས། ༸གོང་ས་སྐྱབས་མགོན་རྒྱལ་བ་ཡིད་བཞིན་ནོར་བུ་མཆོག་གི་སྐུ་ཚེ་ཞབས་པད་བརྟན་ཅིང་། ཐབས་ཆེན་མཛད་འཕྲིན་གྱིས་བོད་ལྗོངས་རང་དབང་གཙང་མའི་དཔལ་ལ་ལོངས་སུ་སྤྱོད་པ་དང་། ལྷ་དང་བཅས་པའི་འགྲོ་བ་རྣམས་རིང་མིན་རྣམ་མཁྱེན་རྒྱལ་བའི་གོ་འཕང་ལ་བགྲོད་པའི་རྒྱུར་འགྱུར་བར་ཤོག་ཅིག ཅེས་བསྔོ་སྨོན་རྣམ་པར་དག་པའི་མཚམས་སྦྱོར་དང་འབྲེལ། འདི་ལ་ཐོས་བསམ་མཛད་མཁན་རྣམས་ལའང་མཚམས་འདྲི་ཀྱི་བཀྲ་ཤིས་བདེ་ལེགས་ཞུ།

ཧྲི་ལིར་སྤྱི་ལོ་༢༠༠༠ ལོར་དགེ་སློང་ཆོས་འཕེལ་བཟོད་པས་བྲིས།།

प्रकाशन

सामान्य कर्म के अधीन इस जगत में विवेकाशील मानव ही नहीं, बल्कि मूर्ख-संमोह वाले जीव-जन्तु छोटे से छोटे दुख भी नहीं चाहने वाले होते हैं।

इसीलिये सभी सुख प्राप्ति के उपाय और दुःख से बचाव के उपायों और बुद्धि के पूर्ण बल से वैज्ञानिक पदार्थो की शक्ति के द्वारा बाह्य उन्नति से आन्तरिक चित्त में सुख चैन की वृद्धि होने के बजाए और अधिक भय, कठिनाई, लड़ाई-झगड़े दिन प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं, जिसे हम प्रत्यक्ष देख रहे है।

सम्प्रति, इसी जन्म के ही नहीं बल्कि जन्म-जन्मान्तरों तक के सुख-समृद्धि की अगर इच्छा हो तो, उपाय कौशल-महाकारूणिक शास्ता शाक्यमुनि द्वारा बताए गए सम्यक् धर्म में प्रवेश कर, उस मार्ग पर चलने पर ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

इस सभ्यक धर्म को पहले लक्षणों से सम्पन्न गुरू से सुनने की आवश्यकता होती है । इसे देखते हुऐ हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा द्वारा अपने उद्देश्य के अनुरूप परमपावन दलाई लामा जी तथा सभी सम्प्रदायों के रिन्पोछे गुणों तथा पारंगत गुरुओं से क्षेत्रीय लोगों के इच्छा के अनुरूप हिमालय क्षेत्राों में प्रवचनों का आयोजन किया जाता है।

एक व्यक्ति के जीवन में महायान के द्वार, चितोत्पाद से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक के समस्त उपदेशों के अभ्यास करने की पद्धति को आचार्य कमलशील ने अपने ग्रन्थ भावनाक्रम द्वितीय में अत्यन्त सरल एवं सुबोध रूप में निर्देश किया है।

P.T.O.

सन 1992 में हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा के अनुरोध परपरम पुज्य दलाई लामा ली ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन देने की अनुकम्पा कि और निर्देश दिया कि इस ग्रन्थ को भोटी और हिन्दी में अनुवाद कर अधिक से अधिक प्रकाशन करे। अतः उनकी वाणी स्वरूप हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा के महासचिव श्री रोशन लाल नेगी द्वारा अनुवादित इस पुस्तक का प्रथम प्रकाशन किया।

सन् 1995 में द्वितीय प्रकाशन और सालुगाड़ा (पश्चिम बंगाल) में हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा के अनुरोध पर जब परम पावन दलाई लामा जी द्वारा श्री काल चक्र अभिषेक के दौरान इस पुस्तक के तृतीय संस्करण को प्रकाशित किया गया।

अगामी अगस्त 2000 में स्पीति किल गोनपा के अनुरोध पर परमपावन दलाई लामा जी द्वारा श्री काल चक्र अभिषेक के दोरान लोगो को यह पुस्तक आसानी से उपलब्ध हो सके इसलिए हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा द्वारा इस पुस्तक का तृतीय संस्करण प्रकाशित किया।

सुख चैन के इच्छुक सभी लोग इस ग्रन्थ को सुनें, और उसके बाद मन और भावना पूर्वक शीघ्र ही शान्ति प्राप्त करने के उपाय में दिन-रात प्रयत्न करें, तभी हिमालय बौद्ध संस्कृति संरक्षण सभा अपने इस लघु प्रयास को सार्थक समझेगी ।

जुलाई 2000

लामा छोसफेल जोतपा

༄ བསྒོམ་རིམ་བར་པ།

आचार्य कमलशील विरचित

भावनाक्रम

[द्वितीय]

༄༅། །རྒྱ་གར་སྐད་དུ། བྷཱབནཱཀྲམ།

भारतीय भाषा (संस्कृत) में (इस ग्रन्थ का नाम) भावनाक्रम (है) ।

བོད་སྐད་དུ། སྒོམ་པའི་རིམ་པ།

भोट भाषा में (इस ग्रन्थ का नाम) ब्स्गोम-पई-रिम-पा (है) ।

འཇམ་དཔལ་གཞོན་ནུར་གྱུར་པ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ། །

(मैं[1]) मञ्जुश्री कुमारभूत को प्रणाम (करता हूँ) ।

ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ་སྡེའི་ཚུལ་གྱི་རྗེས་སུ་འཇུག་པ་རྣམས་ཀྱི་སྒོམ་པའི་རིམ་པ་མདོར་བཤད་དོ། །འདི་ལ་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་ཤིན་ཏུ་མྱུར་དུ་ཐོབ་པར་འདོད་པ་རྟོག་པ་དང་ལྡན་པས་དེ་ཐོབ་པར་བྱེད་པའི་རྒྱུ་རྣམས་དང་རྐྱེན་རྣམས་ལ་མངོན་པར་བརྩོན་པར་བྱའོ།།

महायान-सूत्रनय के अनुसरण करने वालों के लिये भावना के क्रम संक्षेप में कहा जा रहा है । यहाँ सर्वज्ञता के बहुत जल्दी प्राप्त करने के संकल्प वालों को उसे प्राप्त कराने वाले हेतुओं और प्रत्ययों में प्रयत्नशील होना चाहिए ।

---

१. भोट द्विभाषी लोचावा वन्द्यज्ञानसेन (= བོད་ཀྱི་ལོ་ཙྪ་བ་བནྡེ་ཡེ་ཤེས་སྡེ།)

འདི་ལྟར་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་འདི་ནི་རྒྱུ་མེད་པ་ལས་འབྱུང་བར་མི་རུང་སྟེ། ཐམས་ཅད་ཀྱང་དུས་ཐམས་ཅད་དུ་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་དུ་འབྱུང་བར་ཐལ་བར་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་རོ། །ལྟོས་པ་མེད་པར་འབྱུང་ན་ནི་གང་དུ་ཡང་ཐོགས་པར་མི་རུང་སྟེ། གང་གིས་ན་ཐམས་ཅད་ཀྱང་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་དུ་མི་འགྱུར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་ལ་ལར་བརྒྱ་ལམ་ན་འགའ་ཞིག་འབྱུང་དུ་ཟད་པས་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ནི་རྒྱུ་ལ་ལྟོས་པ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་དུ་ཡང་ལ་ལར་བརྒྱ་ལམ་ན་འགའ་ཞིག་འགྱུར་ཏེ། དུས་ཐབས་ཅད་དུ་མ་ཡིན། གནས་ཐམས་ཅད་དུ་ཡང་མ་ཡིན། ཐམས་ཅད་ཀྱང་མ་ཡིན་པས་དེའི་ཕྱིར་དེ་ནི་རྒྱུ་དང་རྐྱེན་ལ་ལྟོས་པར་ངེས་སོ། །རྒྱུ་དང་རྐྱེན་དེ་དག་གི་ནང་ནས་ཀྱང་མ་ནོར་ཅིང་མ་ཚང་བ་མེད་པ་རྣམས་བསྟེན་པར་བྱའོ།།

इस प्रकार यह सर्वज्ञता हेतु के बिना सम्भव नहीं हो सकती । अन्यथा सभी को सर्वदा सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने का प्रसङ्ग होगा । यदि निरपेक्ष हो तो कहीं पर भी प्रतिहत नहीं हो सकती, क्योंकि सभी हमेशा सर्वज्ञ ही नहीं हो सकते हैं । इसीलिये तो किसी के कभी कुछ हो जाने से सभी वस्तुएँ हेतु पर आश्रित ही हैं । सर्वज्ञता भी किसी को कभी ही सम्भव है । सभी कालों में नहीं होती, सभी स्थानों में भी नहीं होती, सभी को भी नहीं होती, इसलिए उसको तो हेतुओं और प्रत्ययों पर आश्रित होना निश्चित है । उन हेतुओं और प्रत्ययों में से भी अभ्रान्त तथा समग्र हेतु का ही सेवन करना चाहिए ।

རྒྱུ་ནོར་བ་ལ་ནན་ཏན་བྱས་ན་ནི་ཡུན་ཤིན་ཏུ་རིང་པོ་ཞིག་གིས་ཀྱང་འདོད་པའི་འབྲས་བུ་འཐོབ་པ་མེད་དོ། དཔེར་ན། རྭ་ལས་འོ་

མ་བཞོས་པ་བཞིན་ནོ། །རྒྱུ་མཐའ་དག་མ་བསྒྲུབ་པ་ལས་ཀྱང་འབྲས་བུ་འབྱུང་བ་མེད་དེ། ས་བོན་ལ་སོགས་པ་གང་ཡང་རུང་བ་ཞིག་མེད་ན་མྱུ་གུ་ལ་སོགས་པ་འབྲས་བུ་མི་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་འབྲས་བུ་དེ་འདོད་པས་རྒྱུ་དང་རྐྱེན་མ་ནོར་བ་དང་མཐའ་དག་ལ་བསྟེན་པར་བྱའོ།།

भ्रान्त हेतुओं का अनुष्ठान करने (=कार्य में लग जाने) से तो अत्यन्त लम्बे समय में भी इष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो पाती, जैसे कि (गाय के) सींग से दूध दुहना । यह इसी के समान है । समस्त हेतुओं का उपयोग नहीं करने पर भी फल की प्राप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि बीज (पानी, खाद, वायु) आदि किसी एक के भी न होने पर अंकुर आदि फल उत्पन्न नहीं होते । इसलिये उस फल को चाहने वालों को अभ्रान्त तथा समग्र हेतुओं और प्रत्ययों का सेवन करना चाहिए।

འབྲས་བུ་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་ཀྱི་རྒྱུ་དང་རྐྱེན་དེ་དག་གང་ཞེ་ན། སྨྲས་པ། བདག་ལྟ་བུ་དམུས་ལོང་དང་འདྲ་བས་དེ་དག་བསྟན་པར་མི་ནུས་མོད་ཀྱི། འོན་ཀྱང་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཉིད་ཀྱིས་མངོན་པར་རྫོགས་པར་སངས་རྒྱས་ནས་གདུལ་བྱ་རྣམས་ལ་ཇི་སྐད་བཤད་པ་དེ་བཞིན་དུ་བདག་གིས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་བཀའ་ཉིད་ཀྱིས་བཤད་དོ། ། **བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་** དེར་བཀའ་སྩལ་པ། "གསང་བའི་བདག་པོ་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པའི་ཡེ་ཤེས་དེ་ནི་སྙིང་རྗེའི་རྩ་བ་ལས་བྱུང་བ་ཡིན། བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་ཀྱི་རྒྱུ་ལས་བྱུང་བ་ཡིན། ཐབས་ཀྱིས་མཐར་ཕྱིན་པ་ཡིན་ནོ།" །ཞེས་འབྱུང་ངོ་། །དེ་ལྟ་བས་ན་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་ཐོབ་པར་འདོད་པས་**སྙིང་རྗེ་**དང་། **བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་**དང་། **ཐབས་**དང་གསུམ་པོ་འདི་དག་ལ་བསླབ་པར་བྱའོ།

फ़ल (रूपी) सर्वज्ञता के हेतु और प्रत्यय क्या है ? कहता हूँ कि - अन्धे के समान मेरे जैसे वे सब नहीं कहे जा सकते, फिर भी स्वयं भगवान् ने अभिसंबुद्ध होकर विनेय जनों को जैसे कहा था उसी प्रकार मैं भगवान् (बुद्ध) के वचनों के आधार पर ही कहूँगा । **भगवान् ने कहा था**—"गुह्याधिपते ! वह सर्वज्ञ का ज्ञान तो करुणा के मूल से उत्पन्न होता है । बोधिचित्त के हेतु से उत्पन्न होता है । उपायों से पारंगत होता है ।" इसलिये सर्वज्ञता की प्राप्ति की इच्छा करने वालों को **करुणा, बोधिचित्त** तथा **उपाय** इन तीनों की शिक्षा लेनी चाहिए।

སྙིང་རྗེས་བསྐྱོད་ན་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་མངོན་པར་གདོན་པའི་ཕྱིར་ངེས་པར་དམ་འཆའ་བར་འགྱུར་རོ། །དེ་ནས་བདག་ཉིད་ལ་ལྟ་བ་བསལ་ནས་ཤིན་དུ་བྱ་དཀའ་ཞིང་རྒྱུན་མི་ཆད་ལ་ཡུན་རིང་པོར་བསྒྲུབས་པའི་བསོད་ནམས་དང་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཚོགས་ལ་གུས་པར་འཇུག་གོ། དེར་ཞུགས་ནས་ངེས་པར་བསོད་ནམས་དང་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཚོགས་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་སྒྲུབ་བོ། །ཚོགས་རྣམས་ཡོངས་སུ་རྫོགས་ན་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་ལག་མཐིལ་དུ་ཐོབ་པ་དང་འདྲ་བར་འགྱུར་རོ། །དེ་བས་ན་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་ཀྱི་རྩ་བ་ནི་སྙིང་རྗེ་ཁོ་ན་ཡིན་པས་དེ་ནི་ཐོག་མ་ཁོ་ནར་གོམས་པར་བྱའོ།།

ཆོས་ཡང་དག་པར་སྡུད་པ་ལས་ཀྱང་བཀའ་སྩལ་ཏེ། "བཅོམ་ལྡན་འདས་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔས་ཆོས་རབ་ཏུ་མང་པོ་ལ་བསླབ་པར་མི་བགྱིའོ། །བཅོམ་ལྡན་འདས་བྱང་ཆུབ་སེམས་པས་ཆོས་གཅིག་རབ་ཏུ་གཟུང་ཞིང་རབ་ཏུ་རྟོགས་པར་བགྱིས་ན་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཆོས་ཐམས་ཅད་དེའི་ལག་མཐིལ་དུ་མཆིས་པ་ལགས་སོ།། ཆོས་གཅིག་པོ་གང་ཞེ་ན། འདི་ལྟ་སྟེ་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོའོ།" །ཞེས་འབྱུང་ངོ་།།

करुणा से प्रेरित होकर बोधिसत्व सभी प्राणियों के उद्धार के लिये आवश्यक प्रतिज्ञा करते हैं । इसके बाद आत्मदृष्टि को छोड़कर, अत्यन्त कठिन होने पर भी लगातार लम्बे समय में सिद्ध होने वाले पुण्य एवं ज्ञान संभारों (=समूह) में सादर प्रवेश करते हैं । वहाँ प्रवेश करके नियत पुण्य एवं ज्ञान सम्भारों (=समूह) की परिपूर्णता की साधना करते हैं । सम्भारों के परिपूर्ण हो जाने पर सर्वज्ञता हथेली पर प्राप्ति के समान हो जाती है अतः करुणा ही सर्वज्ञता का मूल होने के कारण उसी का सर्वप्रथम अभ्यास करना चाहिए । (जैसे कि) **आर्यधर्मसंगीति** में भी कहा गया है- "हे भगवन् ! बोधिसत्वों को अनेक धर्मों की शिक्षा नहीं लेनी चाहिए । भगवन् ! बोधिसत्व एक ही धर्म को ग्रहण कर उसी को अच्छी तरह जान लेने पर सभी बुद्ध-धर्म उसकी हथेली पर विद्यमान हो जाते हैं । वह एक धर्म कौन सा है ? वह (एक धर्म है) महाकरुणा।"

སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོས་ཡོངས་སུ་ཟིན་པས་ན་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་རྣམས་རང་གི་དོན་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་མཐའ་དག་བརྙེས་ཀྱང་སེམས་ཅན་གྱི་ཁམས་མཐར་ཐུག་པའི་བར་དུ་བཞུགས་པར་མཛད་དོ།། ཉན་ཐོས་བཞིན་དུ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་གྲོང་ཁྱེར་ཤིན་ཏུ་ཞི་བར་ཡང་འཇུག་པར་མི་མཛད་དེ། སེམས་ཅན་ལ་གཟིགས་ནས་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་གྲོང་ཁྱེར་ཞི་བ་དེ་ལྕགས་ཀྱི་ཁང་པ་འབར་བ་བཞིན་དུ་ཐག་རིང་དུ་སྤོང་བས་བཅོམ་ལྡན་འདས་རྣམས་ཀྱི་མི་གནས་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་རྒྱུ་ནི་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོ་དེ་ཉིད་ཡིན་ནོ།།

महाकरुणा द्वारा परिगृहीत (=पकड़ा हुआ) होने से भगवान् बुद्ध को स्वार्थ सम्पत्ति की पूर्णतया प्राप्ति हो जाने पर भी प्राणी-धातु के अन्त तक रहा करते हैं । श्रावक के जैसे अत्यन्त शान्त निर्वाण-नगर में प्रवेश नहीं करते । (दुःखी) प्राणियों (की दशा) को देखकर उस शान्त निर्वाण नगर को जलते हुए लोहे के घर के समान दूर छोड़ देते हैं ।

अतः भगवान् (बुद्धों) के अप्रतिष्ठित निर्वाण का हेतु तो यह महाकरुणा ही है ।

དེ་ལ་སྙིང་རྗེ་བསྒོམ་པའི་རིམ་པ་དེ་དང་པོ་འཇུག་པ་ནས་བརྩམས་ཏེ་བརྗོད་པར་བྱའོ། །ཐོག་མར་རེ་ཞིག་བཏང་སྙོམས་བསྒོམས་པས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་རྗེས་སུ་ཆགས་པ་དང་། ཁོང་ཁྲོ་བ་བསལ་ཏེ་སྙོམས་པའི་སེམས་ཉིད་བསྒྲུབ་པར་བྱའོ།།

यहाँ उस करुणा की भावना को क्रमशः प्रथम-प्रवेश से शुरू करके कहा जाएगा । इसमें सबसे पहले उपेक्षा की भावना (=अभ्यास) से सभी प्राणियों के प्रति अनुराग (=आसक्ति) और द्वेष (=ईर्ष्या या घृणा) को दूर करके समचित्तता साधना करनी चाहिए ।

སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་བདེ་བ་ནི་འདོད་སྡུག་བསྔལ་བ་ནི་མི་འདོད་ལ། ཐོག་མ་མེད་པ་ཅན་གྱི་འཁོར་བ་ན་སེམས་ཅན་གང་ལན་བརྒྱར་བདག་གི་གཉེན་དུ་མ་གྱུར་པ་དེ་གང་ཡང་མེད་དོ་སྙམ་དུ་ཡོངས་སུ་བསམ་ཞིང་། འདི་ལ་བྱེ་བྲག་ཅི་ཞིག་ཡོད་ན་ལ་ལ་ལ་ནི་རྗེས་སུ་ཆགས། ལ་ལ་ལ་ནི་ཁོང་ཁྲོ་བར་གྱུར། དེ་ལྟ་བས་ན་བདག་གིས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་སེམས་སྙོམས་པ་ཉིད་དུ་བྱའོ། །སྙམ་དུ་དེ་ལྟར་ཡིད་ལ་བྱ་ཞིང་བར་མའི་ཕྱོགས་ནས་བརྩམས་ཏེ། མཛའ་བཤེས་དང་དགྲ་ལ་ཡང་སེམས་སྙོམས་པ་ཉིད་དུ་བསྒོམ་མོ།།

सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख तो नहीं चाहते । अनादि काल से चले आ रहे संसार में कोई भी प्राणी सौ बार मेरा रिश्तेदार नहीं बना हो—ऐसा कोई भी नहीं है, ऐसा सोचते हुए (इस में किन विशेषताओं के होने से किसके प्रति) अनुराग (=आसक्ति), किसके प्रति द्वेष हो जाता है, इसीलिये मैं सभी प्राणियों में चित्तसमता ही करूँगा, ऐसा

सोच करके मध्यस्थ पक्ष से शुरू करके मित्र–बन्धु तथा शत्रु में भी चित्तसमता की ही भावना (=अभ्यास) करनी चाहिए ।

དེ་ནས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་སེམས་སྙོམས་པ་ཉིད་དུ་བསྒྲུབས་ནས་བྱམས་པ་བསྒོམ་མོ། །བྱམས་པའི་ཆུས་སེམས་ཀྱི་རྒྱུད་བརླན་ཏེ་གསེར[1]ཡོད་པའི་ས་གཞི་བཞིན་དུ་བྱས་ལ་སྙིང་རྗེའི་ས་བོན་བཏབ་ན་བདེ་བླག་ཏུ་ཤིན་ཏུ་ཡོངས་སུ་རྒྱས་པར་འགྱུར་རོ། །དེ་ནས་སེམས་ཀྱི་རྒྱུད་བྱམས་པས་བསྒོས་ནས་སྙིང་རྗེ་བསྒོམ་པར་བྱའོ།།

इसके बाद सभी प्राणियों पर चित्तसमता सिद्ध करके मैत्री की भावना (=अभ्यास) करनी चाहिए । मैत्री के जल से चित्त सन्तान को सींच कर उसे आर्द्र भूमि की भाँति करके (उसमें) करुणा का बीज बोया जाए तो सुचारु रूप से अत्यन्त विकास होगा । उसके बाद चित्त सन्तान को मैत्री से लिप्त करके करुणा की भावना करनी चाहिए ।

སྙིང་རྗེ་དེ་ནི་སེམས་ཅན་སྡུག་བསྔལ་བ་ཐམས་ཅད་སྡུག་བསྔལ་དེ་དང་བྲལ་བར་འདོད་པའི་རྣམ་པ་ཡིན་ན། །ཁམས་གསུམ་པའི་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ནི་སྡུག་བསྔལ་ཉིད་རྣམ་པ་གསུམ་གྱིས་ཅི་རིགས་པར་ཤིན་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་བ་དག་ཡིན་པས་དེའི་ཕྱིར་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་དེ་བསྒོམ་པར་བྱ་སྟེ། འདི་ལྟར་རེ་ཞིག་སེམས་ཅན་དམྱལ་བ་པའི་སེམས་ཅན་གང་དག་ཡིན་པ་དེ་དག་ནི་རྒྱུན་མི་ཆད་ཅིང་ཡུན་རིང་ལ་ཚ་བ་ལ་སོགས་པའི་སྡུག་བསྔལ་སྣ་ཚོགས་ཀྱི་ཆུ་བོར་བྱིང་བ་ཁྲོ་ན་ཡིན་ནོ།། ཞེས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

वह करुणा सभी दुःखी प्राणियों को उन दुःखों से अलग कराने वाली इच्छा के आकार की है । तीनों धातु के सभी प्राणी तीन प्रकार के

---

1 གསེར་ = གཤེར་

दुःख से यथायोग अत्यन्त दुःखी हैं, अतः सभी प्राणियों पर उस (करुणा) की भावना करनी चाहिए । इस प्रकार कुछ नरक के प्राणी जो हैं वे तो बिना रुके लम्बे समय तक ताप (=जलन) आदि विभिन्न दुःख रूपी नदी में डूबे हुये ही होते हैं । ऐसा भगवान् (बुद्ध) ने कहा है ।

དེ་བཞིན་དུ་ཡི་དྭགས་རྣམས་ཀྱང་ཕལ་ཆེར་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་པའི་བཀྲེས་པ་དང་སྐོམ་པའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་མེས་བསྐམས་པའི་ལུས་ཤིན་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་མང་པོ་མྱོང་ངོ་། །ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ། །དུད་འགྲོ་རྣམས་ཀྱང་གཅིག་ལ་གཅིག་ཟ་བ་དང་། ཁྲོ་བ་དང་། གསོད་པ་དང་། རྣམ་པར་འཚེ་བ་ལ་སོགས་པའི་སྡུག་བསྔལ་རྣམ་པ་མང་པོ་མྱོང་བ་ཁོ་ནར་སྣང་ངོ་། །མི་རྣམས་ཀྱང་འདོད་པ་ཡོངས་སུ་ཚོལ་བས་ཕོངས་ནས་གཅིག་ལ་གཅིག་འཁྲུ་བ་དང་། གནོད་པ་བྱེད་པ་དང་། སྡུག་པ་དང་བྲལ་བ་དང་། མི་སྡུག་པ་དང་ཕྲད་པ་དང་། དབུལ་ཕོངས་ལས་གྱུར་པ་ལ་སོགས་པའི་སྡུག་བསྔལ་དཔག་ཏུ་མེད་པ་ཉམས་སུ་མྱོང་བར་སྣང་ངོ་།།

इसी प्रकार प्रेत भी प्रायः अत्यन्त असहनीय भूख और प्यास के दुःखों की अग्नि से सूखे शरीर वाले, घोर दुःखों का अनुभव करते हैं । ऐसा (बुद्ध ने) कहा है । पशु भी-एक दूसरे को खाना, क्रोध, मारना, हिंसा आदि कई प्रकार के दुःख ही अनुभव करते हुए दिखाई देते हैं । मनुष्य भी-इच्छित (वस्तु) की खोज में दरिद्र होकर एक दूसरे से द्रोह करना (=किसी के विरुद्ध षड़यन्त्र रचना) और बाधा पहुँचाना, प्रिय से छूटना और अप्रिय से मिलना, गरीबी आदि से होने वाले अन्त रहित दुःखों का अनुभव करते हुए दिखाई देते हैं ।

གང་དག་འདོད་ཆགས་ལ་སོགས་པའི་ཉོན་མོངས་པས་ཀུན་ནས་དཀྲིས་པ་སྣ་ཚོགས་ཀྱིས་སེམས་དཀྲིས་པ་དག་དང་། གང་དག་ལྟ་བ་

ངན་པ་རྣམ་པ་སྣ་ཚོགས་གཟིང་གཟིང་བར་གྱུར་པ་དེ་ཐམས་ཅད་ཀྱང་སྡུག་བསྔལ་གྱི་རྒྱུ་ཡིན་པས་གད་ཀ་ན་འདུག་པ་བཞིན་དུ་ཤིན་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་བ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །ལྷ་རྣམས་ཀྱང་ཐམས་ཅད་འགྱུར་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཉིད་ཀྱིས་སྡུག་བསྔལ་བ་དག་སྟེ། འདོད་པ་ན་སྤྱོད་པའི་ལྷ་གང་དག་ཡིན་པ་དེ་དག་ནི་རྟག་ཏུ་འཆི་འཕོ་བ་དང་ལྟུང་བ་ལ་སོགས་པའི་འཇིགས་པའི་མྱ་ངན་གྱིས་སེམས་ལ་གནོན་ན་ཇི་ལྟར་བདེ། འདུ་བྱེད་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་ཉིད་ནི་ལས་དང་ཉོན་མོངས་པའི་མཚན་ཉིད་ཀྱི་རྒྱུའི་གཞན་གྱི་དབང་གི་ངོ་བོ་ཉིད་དང་། སྐད་ཅིག་རེ་རེ་ལ་འཇིག་པའི་ངང་ཅན་གྱི་མཚན་ཉིད་དེ། འགྲོ་བ་ཐམས་ཅད་ལ་ཁྱབ་པ་ཡིན་ནོ།།

जो लोग राग आदि अनेक क्लेशों वाली आसक्ति से लिप्त चित्त वाले होते हैं, और जो कु-दृष्टियों में गहन रूप से डूबे हुये हैं वे सभी दुःख के हेतु होने के कारण, प्रपात (=किनारे या खाई पर लटके हुए) पर बैठे हुए (व्यक्ति) की तरह बहुत दुःखी हैं । देवता भी सभी विपरिणामों के दुःख से दुःखी हैं । काम (धातु) में विचरण करने वाले जो देवता हैं, वे तो सदा च्युति (=प्राण निकलने) और (मृत्यु लोक अथवा नरक, प्रेत, पशु योनि में) पतन आदि के भय और शोक द्वारा पीड़ित चित्त से प्रभावित होते हैं, अतः वे कैसे सुखी होंगे ? संस्कार दुःख तो कर्म और क्लेश के लक्षण वाले, परतन्त्र स्वभाव वाले और प्रतिक्षण भङ्ग होने वाले स्वभाव (और) लक्षण वाले हैं जो समस्त गतियों में व्याप्त (=फैले हुए) हैं ।

དེ་བས་ན་འགྲོ་བ་མཐའ་དག་ནི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་མེ་ལྕེ་འབར་བའི་ནང་དུ་ཞུགས་པ་ཡིན་པར་བལྟས་ལ། ཇི་ལྟར་བདག་སྡུག་བསྔལ་མི་འདོད་པ་ལྟར་གཞན་ཐམས་ཅད་ཀྱང་དེ་དང་འདྲའོ་སྙམ་དུ་བསམ་ཞིང་། ཀྱེ་མ་ཀྱི་ཧུད་བདག་ལ་སྡུག་པའི་སེམས་ཅན་འདི་དག་སྡུག་བསྔལ་ན།

སྡུག་བསྔལ་དེ་ལས་ཇི་ལྟར་ཐར་བར་བྱ་ཞེས་བདག་ཉིད་སྡུག་བསྔལ་བ་
བཞིན་དུ་བྱེད་ཅིང་དེ་དང་བྲལ་བར་འདོད་པའི་རྣམ་པའི་སྙིང་རྗེ་དེས་ཏིང་
ངེ་འཛིན་ལ་འདུག་ཀྱང་རུང་། སྤྱོད་ལམ་ཐམས་ཅད་དུ་ཡང་རུང་སྟེ།
དུས་ཐམས་ཅད་དུ་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་བསྒོམ་པར་བྱ་སྟེ། ཐོག་
མ་ཁོ་ནར་མཛའ་བཤེས་ཀྱི་ཕྱོགས་རྣམས་ལ་ཇི་སྐད་སྨོས་པའི་སྡུག་བསྔལ་
སྣ་ཚོགས་ཉམས་སུ་མྱོང་བར་མཐོང་བས་བསྒོམ་པར་བྱའོ།།

इसलिये समस्त जगत को दुःख (रूपी) अग्नि की ज्वाला के भीतर प्रविष्ट देखकर जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है अन्य सभी (प्राणी) भी उसी प्रकार हैं, ऐसा सोचते हुए—हाय ! मुझसे प्यार रखने वाले ये प्राणी दुःखी हैं तो कैसे मैं उन्हें उन दुःखों से मुक्त कराऊँ, इस प्रकार उन्हें (=उनके दुःकों को) अपने दुःख के समान (मान) कर उनसे छुटकारा दिलाने की इच्छा रूपी करुणा द्वारा चाहे समाधि में स्थित हों, अथवा सभी प्रकार के चारिकाओं में हों सदा सभी प्राणियों के (हित की ही) भावना करनी चाहिए । सबसे पहले मित्र और बन्धुओं के प्रति उक्त विभिन्न दुःखों के अनुभवों की पीड़ा को देखकर (उस करुणा की) भावना करनी चाहिए ।

དེ་ནས་སེམས་ཅན་མཉམ་པ་ཉིད་ཀྱིས་བྱེ་བྲག་མེད་པར་མཐོང་
ནས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ནི་བདག་གི་གཉེན་དུ་གྱུར་པ་ཁོ་ནའོ་སྙམ་དུ་
ཡོངས་སུ་བསམ་ཞིང་བར་མའི་ཕྱོགས་རྣམས་ལ་བསྒོམ་པར་བྱའོ།།
གང་གི་ཚེ་དེ་ལ་མཛའ་བཤེས་ཀྱི་ཕྱོགས་བཞིན་དུ་སྙིང་རྗེ་དེ་མཉམ་པར་
ཞུགས་པར་གྱུར་པ་དེའི་ཚེ་ཕྱོགས་བཅུའི་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་བསྒོམ་
པར་བྱའོ། །གང་གི་ཚེ་བུ་ཆུང་ངུ་སྡུག་པ་སྡུག་བསྔལ་བར་གྱུར་
བའི་མ་བཞིན་དུ་བདག་ཉིད་ཀྱིས་ཤིན་ཏུ་སྡུག་པ་སྡུག་བསྔལ་བ་ལས་འདོན་

པར་འདོད་པའི་རྣམ་པ་རང་གི་ངང་གིས་འཇུག་པའི་སྙིང་རྗེ་དེ་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་མཉམ་པར་ཞུགས་པར་གྱུར་པ་དེའི་ཚེ་རྫོགས་པ་ཞེས་བྱ་སྟེ། སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོའི་མིང་ཡང་འཐོབ་བོ།།

उसके बाद प्राणियों में समता के कारण अन्तर न देखते हुए सभी प्राणी तो मेरे रिश्तेदार ही हैं इस तरह भली प्रकार सोचकर मध्य (=बीच) के पक्षों को सोचना चाहिए । जब वहाँ मित्र–बन्धु के पक्ष की तरह ही करुणा समान रूप से प्रवृत्त होने लगे तब सभी दसों दिशाओं के प्राणियों पर भावना करनी चाहिए । जब दुःखी प्रिय बच्चे की माता की तरह अपने में अत्यन्त प्रिय को दुःख से उद्धार करने की इच्छा के आकार की (करुणा) अपने आप ही प्रवृत्त होने लगती है तथा वह सभी प्राणियों पर समान–रूप से प्रवृत्त होने लगती है तब वह निष्पन्न (=सम्पन्न अथवा पूरा कार्यान्वित) मानी जाती है । (और उसे) महाकरुणा का नाम भी प्राप्त होता है ।

བྱམས་པ་བསྒོམ་པ་ནི་མཛའ་བཤེས་ཀྱི་ཕྱོགས་ལ་ཐོག་མར་བྱས་ནས་བདེ་བ་དང་ཕྲད་པར་འདོད་པའི་རྣམ་པ་སྟེ། རིམ་གྱིས་ཐ་མལ་པ་དང་དགྲ་ལ་ཡང་བསྒོམ་པར་བྱའོ། །དེ་ལྟར་དེ་སྙིང་རྗེ་གོམས་པར་བྱས་ནས། རིམ་གྱིས་སེམས་ཅན་མཐའ་དག་མངོན་པར་འདོན་པར་འདོད་པ་རང་གི་ངང་གིས་འབྱུང་བ་ཉིད་དུ་འགྱུར་རོ།།

मैत्री की भावना पहले मित्रपक्ष की ओर सुख के संयोग की इच्छा के आकार वाली होती है । (इसी तरह) क्रम से साधारण और शत्रु पर भी भावना करनी चाहिए । इस प्रकार उस करुणा का अभ्यास करने से क्रमशः सभी प्राणियों के अभ्युद्धरण करने की इच्छा अपने आप ही उत्पन्न हो जाएगी ।

དེས་ན་རྩ་བའི་སྙིང་རྗེ་གོམས་པར་བྱས་ནས་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་བསྒོམ་པར་བྱའོ། །བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་དེ་ནི་རྣམ་པ་གཉིས་ཏེ།

ཀུན་རྫོབ་དང་། དོན་དམ་པའོ། །དེ་ལ་ཀུན་རྫོབ་པ་ནི་སྙིང་རྗེས་སེམས་ཅན་མཐའ་དག་མངོན་པར་འདོན་པར་དམ་བཅས་ནས་འགྲོ་བ་ལ་ཕན་གདགས་པའི་ཕྱིར་སངས་རྒྱས་སུ་གྱུར་ཅིག་སྙམ་དུ་བླ་ན་མེད་པ་ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་འདོད་པའི་རྣམ་པས་སེམས་དང་པོ་བསྐྱེད་པའོ། །དེ་ཡང་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་ལེའུ་ལས་བསྟན་པའི་ཆོ་ག་བཞིན་དུ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྡོམ་པ་ལ་གནས་པ་མཁས་པ་ཕ་རོལ་པོ་ལས་སེམས་བསྐྱེད་པར་བྱའོ།།

अतः मूल-करुणा की भावना करके बोधिचित्त की भावना करनी चाहिए । यह बोधिचित्त दो प्रकार का होता है—संवृत और परमार्थ । इनमें पहला संवृत (बोधिचित्त) तो करुणा के द्वारा समस्त प्राणियों के अभ्युद्धार की प्रतिज्ञा करके जगत् के हित के लिये (मैं) बुद्ध हो जाऊँ, ऐसे अनुत्तर सम्यक् -सम्बोधि की इच्छा के आकार वाला चित्त-उत्पाद होता है । इसके लिए शील परिवर्त में प्रदर्शित विधि के अनुसार बोधिसत्व संवर (=दीक्षा) में स्थित अन्य विद्वान् से चित्त का उत्पाद करें।

དེ་ལྟར་ཀུན་རྫོབ་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་བསྐྱེད་ནས་དོན་དམ་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་བསྐྱེད་པའི་ཕྱིར་འབད་པར་བྱའོ། །དོན་དམ་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་དེ་ནི་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པ་སྤྲོས་པ་མཐའ་དག་དང་བྲལ་བ། ཤིན་ཏུ་གསལ་བ། དོན་དམ་པའི་སྤྱོད་ཡུལ། དྲི་མ་མེད་པ། མི་གཡོ་བ། རླུང་མེད་པའི་མར་མེའི་རྒྱུན་ལྟར་མི་གཡོ་བའོ། །དེ་འགྲུབ་པ་ནི་རྟག་ཏུ་གུས་པར་ཡུན་རིང་དུ་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་གི་རྣལ་འབྱོར་གོམས་པར་བྱས་པ་ལས་འགྱུར་ཏེ།

འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་པ་ལས། ཇི་སྐད་དུ།

"བྱམས་པ་གང་ཡང་ཉན་ཐོས་རྣམས་ཀྱིའམ། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱིའམ། དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་རྣམས་ཀྱི་དགེ་བའི་ཆོས་འཇིག་རྟེན་པ་དང་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱང་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་གི་འབྲས་བུ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ།" །ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ། །དེ་གཉིས་ཀྱིས་ཏིང་ངེ་འཛིན་ཐམས་ཅད་བསྡུས་པའི་ཕྱིར་རྣལ་འབྱོར་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་དུས་ཐམས་ཅད་དུ་ངེས་པར་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་བསྟེན་པར་བྱ་སྟེ། **འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་པ**་དེ་ཉིད་ལས། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཇི་སྐད་དུ་" ངས་ཉན་ཐོས་རྣམས་དང་། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་དང་། དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་རྣམས་ཀྱི་ཏིང་ངེ་འཛིན་རྣམ་པ་དུ་མ་བསྟན་པ་གང་དག་ཡིན་པ་དེ་དག་ཐམས་ཅད་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་གིས་བསྡུས་པར་རིག་པར་བྱའོ།" །ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ།།

उस प्रकार संवृत बोधिचित्त उत्पन्न करके परमार्थ-बोधिचित्त के उत्पाद के लिए प्रयत्न करना चाहिए । वह परमार्थ-बोधिचित्त तो लोकोत्तर, समस्त प्रपञ्चों से रहित, अत्यन्त स्फुट, परमार्थ गोचर, निर्मल, निश्चल, वायुरहित प्रदीपप्रवाह (=लगातार जलते हुए दीपक) की तरह निश्चल है । उसकी सिद्धि तो निरन्तर नम्रतापूर्वक लम्बे समय तक शमथ एवं विपश्यना के योग की भावना से होगी । जैसे कि **आर्य सन्धि निर्मोचन** (नाम महायान सूत्र) में कहा गया है—"मैत्रेय ! श्रावकों या बोधिसत्वों अथवा तथागतों के जो भी लौकिक तथा लोकोत्तर कुशल धर्म हैं उनको शमथ तथा विपश्यना के फल के रूप में जानना चाहिए"। उन दोनों में सभी समाधियों का संग्रह हो जाने से सभी योगियों को सदा अवश्य ही शमथ तथा विपश्यना का सेवन करना चाहिए । जैसे कि वहीं **आर्य सन्धिनिर्मोचन** (नाम महायान सूत्र) में भगवान् (बुद्ध) ने ऐसा कहा कि—"मैंने श्रावकों, बोधिसत्वों एवं

तथागतों की जिन बहुत सी समाधियों का निर्देश दिया है, वे सभी शमथ तथा विपश्यना में संगृहीत समझी जानी चाहिए ।''

ཞི་གནས་ཙམ་འབའ་ཞིག་གོམས་པར་བྱས་པས་ནི་རྣལ་འབྱོར་པ་རྣམས་ཀྱི་སྒྲིབ་པ་མི་སྤོང་གི །རེ་ཞིག་ཉོན་མོངས་པ་རྣམ་པར་གནོན་པ་ཙམ་དུ་ཟད་དེ། ཤེས་རབ་ཀྱི་སྣང་བ་བྱུང་བ་མེད་པར་བག་ལ་ཉལ་ལེགས་པར་ཆོམས་མི་སྲིད་པའི་ཕྱིར་བག་ལ་ཉལ་ལེགས་པར་ཆོམས་པར་མི་འགྱུར་རོ། །དེ་བས་ན་**འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་པ་**དེ་ཉིད་ལས། "བསམ་གཏན་གྱིས་ནི་ཉོན་མོངས་པ་རྣམས་རྣམ་པར་གནོན་ཏོ། །ཤེས་རབ་ཀྱིས་ནི་བག་ལ་ཉལ་ལེགས་པར་འཇོམས་པར་བྱེད་དོ།" ཞེས་བཀའ་བསྩལ་ཏོ།།

केवल शमथ मात्र की भावना से तो योगियों के आवरणों का प्रहाण (=त्याग) नहीं होता है । कुछ समय केलिये क्लेशों को मात्र दबाए रखा जा सकेगा । प्रज्ञा का प्रकाश हुए बिना अनुशय (=गहन अथवा बुरे कर्मों का वह संस्कार जो सदा साथ रहता है) का समुचित रूप से नाश असम्भव है । (प्रज्ञा के बिना उस) अनुशय का विनाश नहीं होगा इसलिए वहीं **आर्य-सन्धिनिर्मोचन** (नाम महायान सूत्र) में कहा गया है कि -''ध्यान से तो क्लेशों का विष्कंमत होता है । प्रज्ञा से अनुशय का समुचित रूप से विनाश होता है ।''

འཕགས་པ་ཏིང་ངེ་འཛིན་རྒྱལ་པོ་ལས་ཀྱང་།

ཏིང་ངེ་འཛིན་དེ་སྒོམ་པར་བྱེད་མོད་ཀྱི།
དེ་ནི་བདག་ཏུ་འདུ་ཤེས་འཇིག་མི་བྱེད།།
དེ་ནི་ཉོན་མོངས་ཕྱིར་ཞིང་རབ་ཏུ་འཁྲུགས།།
ལྷག་སྤྱོད་འདི་ནི་ཏིང་འཛིན་བསྒོམ་པ་བཞིན།།

གལ་ཏེ་ཆོས་ལ་བདག་མེད་སོ་སོར་རྟོག།
སོ་སོར་དེ་བརྟགས་གལ་ཏེ་བསྒོམ་པ་ནི།།
དེ་ཉིད་མྱ་ངན་འདས་ཐོབ་འབྲས་བུའི་རྒྱུ།།
རྒྱུ་གཞན་གང་ཡིན་དེས་ནི་ཞི་མི་འགྱུར།།

ཞེས་གསུངས་སོ། །**བྱང་ཆུབ་སེམས་པའི་སྡེ་སྣོད**་ལས་ཀྱང་། "གང་དག་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྡེ་སྣོད་ཀྱི་ཆོས་ཀྱི་རྣམ་གྲངས་འདི་མ་ཐོས། འཕགས་པའི་ཆོས་འདུལ་བ་མ་ཐོས་པར་ཏིང་ངེ་འཛིན་ཙམ་གྱིས་ཆོག་པར་འཛིན་པ་ནི་ང་རྒྱལ་གྱི་དབང་གིས་མངོན་པའི་ང་རྒྱལ་དུ་ལྷུང་ཞིང་། སྐྱེ་བ་དང་། རྒ་བ་དང་། ན་བ་དང་། འཆི་བ་དང་། མྱ་ངན་དང་། སྨྲེ་སྔགས་འདོན་པ་དང་། སྡུག་བསྔལ་བ་དང་། ཡིད་མི་བདེ་བ་དང་། འཁྲུག་པ་ལས་ཡོངས་སུ་མི་གྲོལ། འགྲོ་བ་དྲུག་གི་འཁོར་བ་ལས་ཡོངས་སུ་མི་གྲོལ། སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཕུང་པོ་ལས་ཀྱང་ཡོངས་སུ་མི་གྲོལ་ཏེ། དེ་ལ་དགོངས་ནས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་འདི་སྐད་ཅེས། གཞན་ལས་རྗེས་སུ་མཐུན་པ་ཐོས་པ་ན་རྒ་ཤི་ལས་གྲོལ་བར་འགྱུར་རོ། ཞེས་བཀའ་བསྩལ་ཏོ།" ཞེས་གསུངས་སོ།།

आर्य समाधिराज सूत्र में भी कहा गया है—

"भले ही इस समाधि की भावना की जाये,
फिर भी उससे आत्मसंज्ञा का विनाश नहीं होता ।
उससे तो पुनः क्लेश प्रकुपित होंगे,
जैसे कि उद्रक (रामपुत्र)[१] की समाधि भावना ।।
यदि धर्म पर नैरात्म्य का प्रत्यवेक्षण हो,

---

१. गृह त्यागने के तुरन्त बाद ज्ञान की खोज में सिद्धार्थ जिस ऋषी के पास गये और कुछ समय पश्चात् जिसे छोड़ दिया ।

और उसका प्रत्यवेक्षण करके यदि भावना करें ।
तो वही निर्वाणरूपी फल की प्राप्ति का हेतु है,
जो अन्य हेतु हैं, उनसे शान्ति नहीं होती ।।''

बोधिसत्त्वपिटक में भी कहा गया है—''जिन्होंने बोधिसत्व पिटक के इस धर्म पर्याय को नहीं सुना, (इसलिए) आर्य विनय धर्मों का भी श्रवण नहीं किया, तथा जो समाधि-मात्र से सन्तुष्ट रहते हैं, वे अहंकार के वश से अभिमान में पतित होते हैं और वे जन्म, बुढ़ापा, रोग, मरण, शोक, विलाप (=रोना-धोना, बिलखना), दुःख, मानसिक पीड़ा तथा कलह से पूर्णतया मुक्त नहीं होंगे । षड्गतियों के संसार से पूर्णतः मुक्त नहीं होंगे । दुःख स्कन्ध से भी पूर्णतः मुक्त नहीं होंगे । उसको ध्यान में रखकर तथागत ने इस प्रकार कहा—दूसरों से अनुरूप सुनने (=श्रवण करने) वाला जरामरण से मुक्त हो जाएगा'' ऐसा कहा गया है ।

དེ་ལྟ་བས་ན་སྒྲིབ་པ་མཐའ་དག་སྤང་ས་ནས་ཡོངས་སུ་དག་པའི་ཡེ་ཤེས་འབྱུང་བར་འདོད་པས་ཞི་གནས་ལ་གནས་ཤིང་ཤེས་རབ་བསྒོམ་པར་བྱའོ།། དེ་སྐད་དུ། **འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་བརྩེགས་པ་**ལས་ཀྱང་བཀའ་སྩལ་ཏེ།

ཚུལ་ཁྲིམས་ལ་ནི་གནས་ནས་ཏིང་ངེ་འཛིན་ཐོབ་སྟེ།།
ཏིང་ངེ་འཛིན་ཐོབ་ནས་ཀྱང་ཤེས་རབ་སྒོམ་པར་བྱེད།།
ཤེས་རབ་ཀྱིས་ནི་ཡེ་ཤེས་རྣམ་པར་དག་པ་འཐོབ།།
ཡེ་ཤེས་རྣམ་པར་དག་པས་ཚུལ་ཁྲིམས་ཕུན་སུམ་ཚོགས།།

ཞེས་བཀའ་བསྩལ་ཏོ།།

इसलिए समग्र आवरणों का प्रहाण (=त्याग अथवा छोड़) करके विशुद्ध ज्ञान को उत्पन्न करने की इच्छा वालों को शमथ में स्थित होकर प्रज्ञा की भावना करनी चाहिए । **आर्यरत्नकूट** में भी कहा गया है—

"शील में स्थित होने से ही समाधि प्राप्त होती है,
समाधि के प्राप्त होने से ही प्रज्ञा की भावना होगी ।
प्रज्ञा से विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, (और)
विशुद्ध ज्ञान होने से शील-सम्पन्न होती है ।।"

འཕགས་པ་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་དད་པ་བསྒོམ་པའི་མདོ་
ལས་ཀྱང་། "རིགས་ཀྱི་བུ་ཤེས་རབ་ལ་ཉེ་བར་མི་གནས་ན་བྱང་ཆུབ་
སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱིས་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་དད་པ་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་ཇི་
ལྟར་ཡང་འབྱུང་བར་ང་མི་སྨྲའོ། རིགས་ཀྱི་བུ་རྣམ་གྲངས་འདིས་ཀྱང་
འདི་ལྟར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་དད་པ་ཐེག་
པ་ཆེན་པོ་ལ་འབྱུང་བ་གང་ཅི་ཡང་རུང་། དེ་ཐམས་ཅད་ནི་རྣམ་པར་
མ་གཡེངས་པའི་སེམས་ཀྱིས་དོན་དང་ཆོས་ཡང་དག་པར་བསམས་པ་
ལས་བྱུང་བར་རིག་པར་བྱའོ།" ཞེས་བཀའ་བསྩལ་ཏོ།།

आर्य महायान-श्रद्धा-भावना सूत्र में भी कहा गया है—"कुल पुत्र ! प्रज्ञा में स्थित न होने पर बोधिसत्वों की महायान श्रद्धा महायान में किस प्रकार उत्पन्न होगी यह मैं नहीं कहूँगा । कुलपुत्र ! इन पर्याय से भी इस प्रकार बोधिसत्त्वों की जो कोई भी महायान श्रद्धा महायान में उत्पन्न होगी, वे सब तो अविक्षिप्त (=स्थिर) चित्त द्वारा अर्थ और धर्म के सम्यक् चिन्तन से उत्पन्न जान लेना चाहिए ।"

ཞི་གནས་དང་བྲལ་བའི་ལྷག་མཐོང་འབའ་ཞིག་གིས་ནི་རྣལ་
འབྱོར་པའི་སེམས་ཡུལ་རྣམས་ལ་རྣམ་པར་གཡེང་བར་འགྱུར་གྱི།
རླུང་གི་ནང་ན་འདུག་པའི་མར་མེ་བཞིན་དུ་བརྟན་པར་མི་འགྱུར་རོ།། དེ་
བས་ན་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་སྣང་བ་ཤིན་ཏུ་གསལ་བར་མི་འབྱུང་སྟེ། དེ་ལྟ་
བས་ན་གཉིས་ཀ་དང་འདྲ་བར་བསྟེན་པར་བྱའོ། དེའི་ཕྱིར་

འཕགས་པ་ཡོངས་སུ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཆེན་པོའི་མདོ་ལས་ཀྱང་། "ཉན་ཐོས་རྣམས་ཀྱིས་ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་རིགས་མི་མཐོང་སྟེ། ཏིང་ངེ་འཛིན་གྱི་ཤས་ཆེ་བའི་ཕྱིར་དང་། ཤེས་རབ་ཆུང་བའི་ཕྱིར་རོ།། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱིས་ནི་མཐོང་མོད་ཀྱི་མི་གསལ་ཏེ། ཤེས་རབ་ཀྱི་ཤས་ཆེ་བའི་ཕྱིར་དང་། ཏིང་འཛིན་ཆུང་བའི་ཕྱིར་རོ།། དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་ནི་ཐམས་ཅད་གཟིགས་ཏེ། ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་མཚུངས་པར་ལྡན་པའི་ཕྱིར་རོ།" །ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།

शमथ के बिना विपश्यना मात्र से योगी का चित्त विषयों में विक्षिप्त हो (=बिखर) जाता है । हवा के बीच में स्थित दीपक की भाँति स्थिर नहीं होगा । इसलिए ज्ञान प्रकाश अत्यन्त साफ नहीं होगा । अतः दोनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए । इसलिये **आर्यमहापरिनिर्वाणसूत्र** में भी कहा गया है—"श्रावकों के द्वारा तथागत गोत्र नहीं देखा जाता है, क्योंकि उनमें समाधि की अत्याधिक तथा प्रज्ञा अल्प होती है । बोधिसत्वों को यद्यपि दीखता है, लेकिन अस्पष्ट, क्योंकि प्रज्ञा की अत्याधिकता (=बहुत ज्यादा) और समाधि अल्पता (=कमी) होने के कारण । तथागत तो सब देखते हैं क्योंकि (तथागत) शमथ और विपश्यना दोनों समान रूप से युक्त हैं ।"

ཞི་གནས་ཀྱི་སྟོབས་ཀྱིས་ནི་མར་མེ་རླུང་གིས་མ་བསྐྱོད་པ་བཞིན་དུ་རྣམ་པར་རྟོག་པའི་རླུང་རྣམས་ཀྱིས་སེམས་གཡོ་བར་མི་འགྱུར་རོ།། ལྷག་མཐོང་གིས་ནི་ལྟ་བ་ངན་པའི་དྲི་མ་མཐའ་དག་སྤངས་པས་གཞན་དག་གིས་མི་ཕྱེད་དོ། །**ཟླ་བ་སྒྲོན་མེའི་མདོ་**ལས་ཇི་སྐད་དུ།

ཞི་གནས་སྟོབས་ཀྱིས་གཡོ་བ་མེད་པར་འགྱུར།།
ལྷག་མཐོང་གིས་ནི་རི་དང་འདྲ་བར་འགྱུར།།

ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་གཉིས་ཀ་ལ་རྣལ་འབྱོར་དུ་བྱས་པར་གནས་སོ།།

वायु से नहीं हिलने वाले दीपक की तरह शमथ के बल से विकल्प (रूपी) वायु द्वारा चित्त चञ्चल नहीं होता । विपश्यना के द्वारा समस्त कु-दृष्टि (रूपी) मल का प्रहाण हो जाने से दूसरों के द्वारा भेद नहीं किया जा सकता है । जैसे कि **चन्द्रप्रदीपसूत्र** में कहा गया है—

"शमथ के बल से अकम्प्य,
(=अस्थिर नहीं होना) होता है ।
(और) विपश्यना के बल से पर्वत
की भाँति (स्थिर) हो जाता है ।।"

इसलिए दोनों का योग करके स्थित रहें ।

དེ་ལ་ཐོག་མར་རེ་ཞིག་རྣལ་འབྱོར་པས་གང་གིས་བདེ་བར་མྱུར་དུ་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་འགྲུབ་པར་འགྱུར་བ་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་གི་ཚོགས་ལ་རྟེན་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་ཞི་གནས་ཀྱི་ཚོགས་གང་ཞེ་ན། མཐུན་པའི་ཡུལ་ན་གནས་པ་དང་། འདོད་པ་ཆུང་བ་དང་། ཆོག་ཤེས་པ་དང་། བྱ་བ་མང་པོ་ཡོངས་སུ་སྤངས་པ་དང་། ཚུལ་ཁྲིམས་རྣམ་པར་དག་པ་དང་། འདོད་པ་ལ་སོགས་པའི་རྣམ་པར་རྟོག་པ་ཡོངས་སུ་སྤངས་པའོ།།

इसमें पहले उस योगी को सरलता (तथा) जल्दी से शमथ और विपश्यना की सिद्धि के लिये शमथ और विपश्यना के सम्भार का सेवन करना चाहिए । उसमें शमथ-सम्भार क्या है ? (उत्तर-) अनुकूल देश में रहना, अल्प इच्छा, सन्तोष, बहुत से कामों का पूरी तरह त्याग (=बहुकार्यपरित्याग), शील की विशुद्धि और इच्छा आदि विकल्पों का पूर्ण त्यागना है ।

དེ་ལ་ཡོན་ཏན་ལྔ་དག་དང་ལྡན་པ་ནི་མཐུན་པའི་ཡུལ་ཡིན་པར་ཤེས་པར་བྱ་སྟེ། གོས་དང་ཟས་ལ་སོགས་པ་ཚེགས་མེད་པར་རྙེད་པའི་ཕྱིར་**རྙེད་སླ**་བ་དང་། སྐྱེ་བོ་མི་སྡུག་པ་དང་དགྲ་ལ་སོགས་པ་མི་གནས་པའི་ཕྱིར་**གནས་བཟང**་བ་དང་། ནད་མེད་པའི་ས་ཡིན་པས་**ས་བཟང་བ**་དང་། གྲོགས་ཚུལ་ཁྲིམས་དང་ལྡན་པ་ལྟ་བ་མཚུངས་པ་ཡིན་པས་**གྲོགས་བཟང་བ**་དང་། ཉིན་མོ་སྐྱེ་བོ་མང་པོ་དག་གིས་མ་གང་བའི་ཕྱིར་དང་། མཚན་མོ་སྒྲ་ཆུང་བའི་ཕྱིར་**ལེགས་པར་ལྡན**་པའོ།།

इन में पाँच गुणों से युक्त (देश) को अनुकूल देश जान लेना चाहिए । (पाँच गुण ये है-)वस्त्र, भोजन आदि बिना कठिनाई से प्राप्त होने के कारण उनका **सुलाभ**; दुर्जन, शत्रु आदि के न रहने से **सुस्थान** (=अच्छे सथान); नीरोग भूमि होने से **सुभूमि** (=अच्छी भूमि); मैत्री शील से युक्त समदृष्टि वाले लोगों के होने से **सुमित्रता** (=अच्छे दोस्त); और दिन में बहुत से लोगों से भरा हुआ नहीं होने तथा रात में अल्प शब्द (=कम आवाज़) होने से (ऐसा स्थान अच्छे गुणों वाला देश) **सुयुक्त** कहा जाता है ।

འདོད་པ་ཆུང་བ་གང་ཞེ་ན། ཆོས་གོས་ལ་སོགས་པ་བཟང་པོའམ་མང་པོ་ལ་ལྷག་པར་ཆགས་པ་མེད་པའོ། །ཆོག་ཤེས་པ་གང་ཞེ་ན། ཆོས་གོས་ལ་སོགས་པ་ངན་ངོན་ཙམ་རྙེད་པས་རྟག་ཏུ་ཆོག་ཤེས་པ་གང་ཡིན་པའོ། །བྱ་བ་མང་པོ་ཡོངས་སུ་སྤྲངས་པ་གང་ཞེ་ན། ཉོ་ཚོང་ལ་སོགས་པ་ལས་ངན་པ་ཡོངས་སུ་སྤང་བ་དང་། ཁྱིམ་པ་དང་རབ་ཏུ་བྱུང་བ་གང་དག་ཏ་ཙང་སློས་འདྲིན་བྱེད་པ་ཡོངས་སུ་སྤང་བ་དང་། སྨན་བྱེད་པ་སྐར་མ་རྩི་བ་ལ་སོགས་པ་ཡོངས་སུ་སྤྲངས་པ་གང་ཡིན་པའོ།།

अल्प-इच्छा क्या है ? चीवर (=भिक्षुओं के वस्त्र) आदि की उत्कृष्टता (=बढ़िया) या अधिकता की कामना न करना । सन्तुष्टि क्या है ? केवल साधारण चीवर आदि की प्राप्ति से ही जो सन्तोष है । बहुकार्य का परित्याग क्या है ? खरीदना—बेचना आदि बुरे कामों का पूर्ण त्याग, गृहस्थ तथा प्रव्रजित का (एक दूसरे से) अधिक बातें करना और प्रशंसा का पूर्ण त्याग करना, ओषधि—बनाना तथा नक्षत्र-गणना (=ज्योतिष) आदि कामों का पूर्ण त्याग करना आदि है ।

ཚུལ་ཁྲིམས་རྣམ་པར་དག་པ་གང་ཞེ་ན། སྡོམ་པ་གཉིས་ཀ་ལ་ཡང་རང་བཞིན་དང་བཅས་པའི་ཁ་ན་མ་ཐོ་བ་དང་བཅས་པའི་བསླབ་པའི་གཞི་མི་འཉལ་བ་དང་། བག་མེད་པར་རལ་ན་ཡང་སྐྱེན་པ་སྐྱེན་པར་འགྱོད་པས་ཆོས་བཞིན་དུ་བྱེད་པ་དང་། ཉན་ཐོས་ཀྱི་སྡོམ་པ་ལ་ཕམ་པ་བཅོས་སུ་མི་རུང་བར་གསུངས་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ལ་ཡང་འགྱོད་པ་དང་ལྡན་པ་དང་། ཕྱིས་མི་བྱ་བའི་སེམས་དང་ལྡན་པ་དང་། སེམས་གང་གིས་ལས་དེ་བྱས་པའི་སེམས་དེ་ལ་ངོ་བོ་ཉིད་མེད་པར་སོ་སོར་རྟོག་པའི་ཕྱིར་རམ། ཆོས་ཐམས་ཅད་ངོ་བོ་ཉིད་མེད་པར་གོམས་པའི་ཕྱིར་དེའི་ཚུལ་ཁྲིམས་རྣམ་པར་དག་པ་ཁོ་ན་ཡིན་པར་བརྗོད་པར་བྱའོ།། དེ་ནི་**འཕགས་པ་མ་སྐྱེས་དགྲའི་འགྱོད་པ་བསལ་བ**་ལས་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་རིག་པར་བྱའོ།། དེ་བས་ན་དེ་འགྱོད་པ་མེད་པར་བྱས་ལ་སྒོམ་པ་ལ་མངོན་པར་བརྩོན་པར་བྱའོ།།

शील विशुद्धि क्या है ? दोनों संवरों (=दीक्षाओं) में भी प्रकृति (सावद्य) और प्रतिक्षेपसावद्य शिक्षा के आधार का भङ्ग न होना तथा प्रमाद (=असावधानी अथवा अवहेलना) से भङ्ग होने पर जल्दी से जल्दी पश्चात्ताप के द्वारा धर्म के अनुसार करना है । श्रावक-संवर में जिन पाराजिकाओं का प्रतिविधान के अयोग्य कहा गया है उन्हें भी

पश्चात्ताप के द्वारा और बाद (=भविष्य) में नहीं करने की प्रतिज्ञा द्वारा तथा जिस चित्त से उस कर्म को किया गया है उस चित्त की निःस्वभावता (=स्वभाव से नहीं है) के प्रत्यवेक्षण (प्रति–बोध) या सभी धर्मों में निःस्वभावता की भावना करने से उसकी शील–विशुद्ध ही कहा जाता है । इसे तो **आर्य अजातशत्रुकौकृत्यविनोदन** (सूत्र) से जान लेना चाहिए । इसलिए पश्चात्ताप रहित होकर भावना में प्रयत्न करना चाहिए।

འདོད་པ་རྣམས་ལ་ཡང་ཚེ་འདི་དང་ཚེ་ཕྱི་མ་ལ་ཉེས་དམིགས་རྣམ་པ་མང་པོར་འགྱུར་བར་ཡིད་ལ་བྱས་ལ་དེ་དག་ལ་རྣམ་པར་རྟོག་པ་སྤང་བར་བྱའོ།། རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ན་འཁོར་བ་པའི་དངོས་པོ་སྡུག་པའམ་མི་སྡུག་པ་ཡང་རུང་སྟེ། དེ་དག་ཐམས་ཅད་ནི་རྣམ་པར་འཇིག་པའི་ཆོས་ཅན་མི་བརྟན་པ་སྟེ། གདོན་མི་ཟ་བར་དེ་དག་ཐམས་ཅད་དང་བདག་རིང་པོར་མི་ཐོགས་པར་འབྲལ་བར་གྱུར་ན། བདག་དེ་ལ་ཅི་ཞིག་ལྷག་པར་ཆགས་པ་ལ་སོགས་པར་འགྱུར་སྙམ་དུ་བསྒོམས་པས་རྣམ་པར་རྟོག་པ་ཐམས་ཅད་སྤང་བར་བྱའོ།།

कामों में भी इस जन्म और पर जन्म में होने वाले अनेक प्रकार के दोषों को मन में रखकर उन (कामों) की विकल्पों को त्याग देना चाहिए । एक प्रकार से तो संसार की वस्तुएँ प्रिय या अप्रिय चाहे जो भी हों वे सब तो विनाश धर्म वाली (एवं) अस्थिर हैं । इस में सन्देह नहीं है । उन सब में और मुझ में (परस्पर) शीघ्र वियोग (=छुटकारा) होने वाला है, तो मैं क्यों अधिक आसक्ति करूँ, ऐसी भावना करके सभी विकल्पों का प्रहाण (=त्याग) करना चाहिए ।

ལྷག་མཐོང་གི་ཚོགས་གང་ཞེ་ན། སྐྱེས་བུ་དམ་པ་ལ་བརྟེན་པ་དང་། མང་དུ་ཐོས་པ་ཡོངས་སུ་བཙལ་བ་དང་། ཚུལ་བཞིན་སེམས་པའོ། །དེ་ལ་སྐྱེས་བུ་དམ་པ་ཇི་ལྟ་བུ་ལ་བརྟེན་པར་བྱ་ཞེ་ན།

གང་མང་དུ་ཐོས་པ་དང་། ཚིག་གསལ་བ་དང་། སྙིང་རྗེ་དང་ལྡན་པ་དང་། སྐྱོ་བ་བཟོད་པའོ།།

विपश्यना का सम्भार क्या है ? सत्पुरुषों का आश्रय, बहुश्रुतों का अन्वेषण और योनिशोमनस्कार (ये तीन) हैं । उनमें किस तरह के सत्पुरुष का आश्रय (=सहारा) लेना चाहिए ? जो बहुश्रुत (=जिसने धर्म बहुत सुना हो), स्पष्टभाषी (=स्पष्ट अथवा साफ बोलने वाला), करुणा से युक्त तथा दुःखसहिष्णु (=दुःख को सहने वाला) है (ऐसे पुरुष का आश्रय लेना चाहिए ।

དེ་ལ་མང་དུ་ཐོས་པ་ཡོངས་སུ་བཙལ་བ་གང་ཞེ་ན། གང་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་གསུང་རབ་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་པོ་ངེས་པའི་དོན་དང་དྲང་བའི་དོན་ལ་གུས་པར་ཐོས་ཤིང་ཤིན་ཏུ་ཉན་པ་སྟེ། འདི་ལྟར་ **འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་བ་** ལས། "འཕགས་པའི་གདམས་ངག་འདོད་པ་བཞིན་དུ་མ་ཐོས་པ་ནི་ལྷག་མཐོང་གི་གེགས་ཡིན་ནོ།།" ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ། དེ་ཉིད་ལས། "ལྷག་མཐོང་ནི་ཐོས་པ་དང་བསམས་པ་ལས་བྱུང་བའི་ལྟ་བ་རྣམ་པར་དག་པའི་རྒྱུ་ལས་བྱུང་བ་ཡིན་ནོ།།" ཞེས་གསུངས་སོ། །**འཕགས་པ་སྲེད་མེད་ཀྱི་བུས་ཞུས་པ་** ལས་ཀྱང་། "ཐོས་པ་དང་ལྡན་པ་ནི་ཤེས་རབ་འབྱུང་བར་འགྱུར་རོ།། ཤེས་རབ་དང་ལྡན་པ་ནི་ཉོན་མོངས་པ་རབ་ཏུ་ཞི་བར་འགྱུར་རོ།།" ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

उनमें बहुश्रुत अन्वेषण (=खोजना) क्या है ? जो भगवान् (बुद्ध) के द्वादशाङ्ग (=बारह अङ्गों वाले धर्म) प्रवचन के नेयार्थ और नीतार्थ का आदर के साथ श्रवण करता (=सुनता) है । इस प्रकार **आर्यसंधिनिर्मोचन** (नाम महायान सूत्र) में कहा गया है— "इच्छा के अनुसार आर्य-कथा को न सुनना विपश्यना का विघ्न (=बाधा अथवा

रुकावट) है ।'' (=''यथेच्छम आर्यख्यानाश्रवणं हि विपश्यनाविघ्नः '') उसी में—''विपश्यना तो श्रवण (=सुनने) और मनन (=चिन्तन) से उत्पन्न विशुद्ध दृष्टि के कारण उत्पन्न होती है ।'' ऐसा कहा है । **आर्य नारायणपरिपृच्छा** (सूत्र) में भी— ''श्रवणवान में प्रज्ञा उत्पन्न होता है । प्रज्ञावान के क्लेश शान्त होते हैं ।'' ऐसा (भगवान् बुद्ध ने) कहा है ।

ཚུལ་བཞིན་བསམ་པ་གང་ཞེ་ན། གང་ངེས་པའི་དོན་གྱི་མདོ་སྡེ་དང་དྲང་བའི་དོན་གྱི་མདོ་སྡེ་ལ་སོགས་པ་ལེགས་པར་གཏན་ལ་འབེབས་པ་སྟེ། དེ་ལྟར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཐེ་ཚོམ་མེད་ན་བསྒོམ་པ་ལ་གཅིག་ཏུ་ངེས་པར་འགྱུར་རོ།། དེ་ལྟ་མ་ཡིན་ན་ཐེ་ཚོམ་གྱིས་འཕྱང་མོ་ཉུག་པའི་ཐེག་པ་ལ་འདུག་པ་ནི་ལམ་ཁ་བྲག་གི་མདོར་ཕྱིན་པའི་མི་ལྟར་གང་དུ་ཡང་གཅིག་ཏུ་ངེས་པར་མི་འགྱུར་རོ།།

योनिशोमनसिकार क्या है ? जो नीतार्थ सूत्र और नेयार्थ सूत्र आदि सुनिर्णीत करता है । इस प्रकार बोधिसत्त्व को शंका न होने पर भावना में एकान्त निश्चय होता है । अन्यथा संशय (=शंका) से डिगाये जा रहे यान में स्थित रहने पर तो चौराहे पर पहुंचे मनुष्य की तरह कहीं पर भी एक निश्चय नहीं करसकेगा ।

རྣལ་འབྱོར་པས་ནི་དུས་ཐམས་ཅད་དུ་ཉ་དང་ཤ་ལ་སོགས་པ་སྤང་ཞིང་མི་མཐུན་པ་མ་ཡིན་པ་དང་། ཟས་ཚོད་ཟིན་པར་བཟའ་བར་བྱའོ། །དེ་ལྟར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་གི་ཚོགས་མཐའ་དག་བསགས་པ་དེས་བསྒོམ་པ་ལ་འཇུག་པར་བྱའོ།།

योगी को हमेशा मच्छली, मांस आदि छोड़कर, अप्रतिकूल तथा सीमित मात्रा में भोजन करना चाहिए । इस प्रकार जिस बोधिसत्त्व ने शमथ एवं विपश्यना के सम्पूर्ण सम्भारों को सञ्चित किया है, उसे भावना में प्रवेश करना चाहिए ।

དེ་ལ་རྣལ་འབྱོར་པས་སྒོམ་པའི་དུས་ན་ཐོག་མར་བྱ་བ་ཅི་ཡོད་པ་ཐམས་ཅད་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱས་ལ། བཤང་གཅི་བྱས་ནས་སྒྲའི་ཚེར་མ་མེད་པ་ཡིད་དུ་འོང་བའི་ཕྱོགས་སུ་བདག་གིས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སྙིང་པོ་ལ་དགོད་པར་བྱའོ་སྙམ་དུ་བསམ་ཞིང་། འགྲོ་བ་མཐའ་དག་མངོན་པར་གདོན་པའི་བསམ་པ་ཅན་གྱི་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོ་མངོན་དུ་བྱས་ལ། ཕྱོགས་བཅུ་ན་བཞུགས་པའི་སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཐམས་ཅད་ལ་ཡན་ལག་ལྔས་ཕྱག་བྱས་ནས། སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྐུ་གཟུགས་རི་མོ་ལ་སོགས་པ་མདུན་དུ་བཞག་གམ་གཞན་དུ་ཡང་རུང་སྟེ། དེ་དག་ལ་ཅི་ནུས་ཀྱིས་མཆོད་པ་དང་བསྟོད་པ་བྱས་ལ་རང་གི་སྡིག་པ་བཤགས་ནས་འགྲོ་བ་མཐའ་དག་གི་བསོད་ནམས་ལ་རྗེས་སུ་ཡི་རང་བར་བྱས་ལ། སྟན་ཤིན་ཏུ་འཇམ་པོ་བདེ་བ་ལ་རྗེ་བཙུན་རྣམ་པར་སྣང་མཛད་ཀྱི་སྐྱིལ་མོ་ཀྲུང་ལྟ་བུའམ། སྐྱིལ་མོ་ཀྲུང་ཕྱེད་དུ་ཡང་རུང་སྟེ། མིག་ཧ་ཅང་ཡང་མི་དབྱེ། ཧ་ཅང་ཡང་མི་གཟུམ་པར་སྣའི་རྩེ་མོར་གཏད་ཅིང་། ལུས་ཧ་ཅང་ཡང་མི་སྒུ། ཧ་ཅང་ཡང་མི་དགྱེ་བར་དྲང་པོར་བསྲངས་ལ་དྲན་པ་ནང་དུ་བཞག་སྟེ་འདུག་པར་བྱའོ།།

वहाँ योगी को भावना करते समय सर्वप्रथम जितने भी कार्य हैं सब को पूरा कर लेना चाहिए । मल–मूत्र करके, चुभने वाली आवाज़ से रहित, मनोरम (=मन में लगने वाले) स्थान में (स्थित हो) 'मुझे सभी प्राणियों को बोधिमण्डप में स्थापित करना है' ऐसा सोचते हुए समस्त जगत के उद्धार के विचार से युक्त हो महाकरुणा के अभिमुखी हो जाना चाहिए । दसों दिशाओं में रहने वाले सभी बुद्ध और बोधिसत्त्वों को पाँचों अङ्गों से प्रणाम करके, बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की

मूर्त्ति-चित्र आदि को सामने रख या अन्य किसी (वस्तु) पर रखकर उनकी यथा सम्भव (=जितना हो सके) पूजा और स्तुति करके, अपने पापों का प्रायश्चित करना चाहिए । समस्त जगत के पुण्यों का अनुमोदन करके, अत्यन्त नरम-सुख आसन पर भट्टारक (=पूज्य) वैरोचन की पर्यङ्क (=समाधि अवस्था में बैठने की विशेष विधि) की तरह या आधे पर्यङ्क करके आँखों को अत्याधिक न खोल कर, न अधिक बन्द कर, नाक के आगे के भाग पर (दोनों आँखों के) नज़र रख कर, शरीर को न अत्यधिक झुका कर, न अधिक तान कर सीधा करके स्मृति को भीतर की ओर करके (योगी को समाधि में) बैठना चाहिए ।

དེ་ནས་ཕྲག་པ་མཉམ་པར་བཞག་ལ་མགོ་མི་མཐོ་མི་དམའ་ཞིང་ ཕྱོགས་གཅིག་ཏུ་མ་ཡོ་བར་བཞག་སྟེ། སྣ་ནས་ལྟེ་བའི་བར་དྲང་པོར་ བཞག་གོ །སོ་དང་མཆུ་ཡང་ཐ་མལ་པར་བཞག་གོ །ལྕེ་ཡང་ཡ་ སོའི་དྲུང་དུ་གཞར་རོ། །དབུགས་ཕྱི་ནང་དུ་རྒྱུ་བ་ཡང་སྒྲ་ཅན་དང་། རྔམས་པ་ཅན་དང་། དབུགས་རྒོད་པ་ཅན་དུ་མི་བཏང་གི །ཅི་ནས་ ཀྱང་མི་ཚོར་བར་དལ་བུ་དལ་བུས་ལྷུན་གྱིས་གྲུབ་པའི་ཚུལ་གྱིས་དབུགས་ ནང་དུ་རྔུབ་པ་དང་ཕྱིར་འབྱུང་བ་དེ་ལྟར་བྱའོ།།

इसके बाद दोनों कन्धों को बराबर स्थापित करें । सिर को न ऊँचा और न नीचा रखकर एक दिशा में निश्चल (=बिना हिलाए) रखना चाहिए । नाक से नाभि तक (एक) सिधाई में रखना चाहिए । दाँत और होंठों को स्वाभावि रूप से रखना चाहिए । जीभ को ऊपरी दाँतों की जड़ में लगा रखना चाहिए । सांस अन्दर-बाहर ले जाते समय बिना आवाज़ के, न धीरे और न तेज़ ही लेना चाहिए, किसी भी तरह बिना जाने धीरे-धीरे अनायास (=सहज रूप से) ही साँस अन्दर और बाहर निकले, वैसा करना चाहिए ।

དེ་ལ་ཐོག་མར་རེ་ཞིག་ཞི་གནས་བསྒྲུབ་པར་བྱ་སྟེ། ཕྱི་རོལ་གྱི་ ཡུལ་ལ་རྣམ་པར་གཡེང་བ་ཞི་ནས་ནང་དུ་དམིགས་པ་ལ་རྒྱུན་དུ་རང་གི་

ངང་གིས་འཇུག་ལ། དགའ་བ་དང་ཤིན་ཏུ་སྦྱངས་པ་དང་ལྡན་པའི་
སེམས་ཉིད་ལ་གནས་པ་ནི་ཞི་གནས་ཞེས་བྱའོ། །ཞི་གནས་དེ་ཉིད་ལ་
དམིགས་པའི་ཚེ་དེ་ཁོ་ན་ལ་རྣམ་པར་དཔྱོད་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་ལྷག་
མཐོང་ཡིན་ཏེ། **འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་སྤྲིན་**ལས་ཇི་སྐད་དུ།
"ཞི་གནས་ནི་སེམས་རྩེ་གཅིག་པ་ཉིད་དོ། །ལྷག་མཐོང་ནི་ཡང་དག་
པར་སོ་སོར་རྟོག་པའོ།" །ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ།།

यहाँ सबसे पहले शमथ सिद्ध करना चाहिए । बाह्य विषयों पर चित्त को बिना भटके शान्त कर आन्तरिक आलम्बन (=जिस विषय पर ध्यान लगाना है उस) पर लगातार अपने आप प्रवृत्त कर प्रीति और प्रश्रब्धि युक्त चित्त में स्थित होना ही 'शमथ' कहा जाता है । उस शमथ का आलम्बन करते समय जो तत्त्व विचार होता है, वही विपश्यना है । क्योंकि **आर्य रत्नमेघ (सूत्र)** में कहा गया है—"शमथ तो चित्त की एकाग्रता है (और) विपश्यना सम्यक् प्रत्यवेक्षण है ।"

འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་པ་ལས་ཀྱང་།

"བཅོམ་ལྡན་འདས། ཇི་ལྟར་ཞི་གནས་ཡོངས་སུ་ཚོལ་བར་བགྱིད་པ་
དང་། ལྷག་མཐོང་ལ་མཁས་པ་ལགས། བཀའ་སྩལ་པ།
བྱམས་པ་ངས་ཆོས་གདགས་པ་རྣམ་པར་གཞག་པ་འདི་ལྟ་སྟེ། མདོའི་
སྡེ་དང་། དབྱངས་ཀྱིས་བསྙད་པའི་སྡེ་དང་། ལུང་དུ་བསྟན་པའི་སྡེ་
དང་། ཚིགས་སུ་བཅད་པའི་སྡེ་དང་། ཆེད་དུ་བརྗོད་པའི་སྡེ་དང་།
གླེང་གཞིའི་སྡེ་དང་། རྟོགས་པ་བརྗོད་པའི་སྡེ་དང་། དེ་ལྟ་བུ་བྱུང་
བའི་སྡེ་དང་། སྐྱེས་པ་རབས་ཀྱི་སྡེ་དང་། ཤིན་ཏུ་རྒྱས་པའི་སྡེ་དང་།
རྨད་དུ་བྱུང་བའི་ཆོས་ཀྱི་སྡེ་དང་། གཏན་ལ་ཕབ་པར་བསྟན་པའི་སྡེ་
གང་དག་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ལ་བཤད་པ་དེ་དག་བྱང་ཆུབ་

སེམས་དཔས་ལེགས་པར་,ཐོས། ལེགས་པར་གཟུང་། ཁ་ཏོན་བྱང་བར་བྱས། ཡིད་ཀྱིས་ལེགས་པར་བརྟགས། མཐོང་བས་ཤིན་ཏུ་རྟོགས་པར་བྱས་ནས་དེ་གཅིག་པུ་དབེན་པར་འདུག་སྟེ་ནང་དུ་ཡང་དག་བཞག་ནས་ཇི་ལྟར་ལེགས་པར་བསམས་པའི་ཆོས་དེ་དག་ཉིད་ཡིད་ལ་བྱེད་ཅིང་སེམས་གང་གིས་ཡིད་ལ་བྱེད་པའི་སེམས་དེ་ནང་དུ་རྒྱུན་ཆགས་སུ་ཡིད་ལ་བྱེད་པས་ཡིད་ལ་བྱེད་དོ། །དེ་ལྟར་ཞུགས་ཤིང་དེ་ལ་ལན་མང་དུ་གནས་པ་དེ་ལས་ལུས་ཤིན་ཏུ་སྦྱངས་པ་དང་སེམས་ཤིན་ཏུ་སྦྱངས་པ་འབྱུང་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་**ཞི་གནས**་ཞེས་བྱ་སྟེ། དེ་ལྟར་ན་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཞི་གནས་ཡོངས་སུ་ཚོལ་བར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ། །དེས་ལུས་ཤིན་ཏུ་སྦྱངས་པ་དང་། སེམས་ཤིན་ཏུ་སྦྱངས་པ་དེ་ཐོབ་ནས་དེ་ཉིད་ལ་གནས་ཏེ། སེམས་ཀྱི་རྣམ་པར་གཡེང་བ་སྤངས་ནས་ཇི་ལྟར་བསམས་པའི་ཆོས་དེ་དག་ཉིད་ནང་དུ་ཏིང་ངེ་འཛིན་གྱི་སྤྱོད་ཡུལ་གཟུགས་བརྙན་དུ་སོ་སོར་རྟོག་པ་བྱེད། མོས་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ལྟར་ཏིང་ངེ་འཛིན་གྱི་སྤྱོད་ཡུལ་གཟུགས་བརྙན་དེ་དག་ལ་ཤེས་བྱའི་དོན་དེ་རྣམ་པར་འབྱེད་པ་དང་། རབ་ཏུ་རྣམ་པར་འབྱེད་པ་དང་། ཡོངས་སུ་རྟོག་པ་དང་། ཡོངས་སུ་དཔྱོད་པ་དང་། བཟོད་པ་དང་། འདོད་པ་དང་། བྱེ་བྲག་འབྱེད་པ་དང་། ལྟ་བ་དང་། རྟོག་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་**ལྷག་མཐོང**་ཞེས་བྱ་སྟེ། དེ་ལྟར་ན་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ལྷག་མཐོང་ལ་མཁས་པ་ཡིན་ནོ།" །ཞེས་གསུངས་སོ།།

आर्य संधिनिर्मोचन (नाम महायान सूत्र) में भी कहा गया है—"भगवन् ! शमथ की पूर्ण खोज तथा विपश्यना में निपुणता कैसे (प्राप्त) होगी ? (बुद्ध) कहते हैं—मैत्रेय ! मेरे द्वारा धर्मोपचार की व्यवस्था इस

प्रकार है, जो सूत्र वर्ग, गेय वर्ग (=गायन करने योग्य), व्याकरण वर्ग, गाथा वर्ग, उदान वर्ग, निदान वर्ग, अवदान वर्ग, इतिवृत्तक वर्ग, जातक वर्ग, वैपुल्य वर्ग, अद्भुतधर्म वर्ग तथा उपदेश वर्ग जो बोधिसत्त्वों को बतलाये गये हैं उन्हें बोधिसत्त्वों को अच्छी तरह सुन कर, सम्यक् रूप से धारण कर, पाठ का अभ्यास कर, मन से अच्छा परीक्षण कर, (और) देख कर अत्यन्त बोध करें । अकेले एकान्त स्थान में बैठकर, अभ्यन्तर में सुस्थित होकर जिस प्रकार सु-विचारित हैं उन्हीं धर्मों का मनसिकार करके, जिस चित्त के द्वारा मनसिकार होता है उसी चित्त का अभ्यन्तर निरन्तर चिन्तन के द्वारा मनसिकार होता है । इस प्रकार प्रवृत्त हो कर उसमें बहुत बार स्थित होने पर उससे जो काय प्रश्रब्धि और चित प्रश्रब्धि होती है, उसी को **'शमथ'** कहते हैं । इसलिए बोधिसत्त्व शमथ की परि-गवेषण (=पूर्ण खोज) करता है । उससे काय प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि प्राप्त करके उसी में स्थित होता है और चित्त विक्षेप (=चञ्चल) का प्रहाण (=त्याग) करके जैसे चिन्तन किये गये उन्हीं धर्मों का अभ्यन्तर (=अन्दर) में समाधि (के विषय के) प्रतिबिम्ब (=छाया चित्र) के रूप में प्रतिबोध करता है, (और) अधिमुक्त करता है । उस प्रकार समाधि के गोचर (=विषय) उन प्रतिबिम्ब (=छाया चित्र) पर ज्ञेय-अर्थ का जो विवेचन, प्रविवेचना, परिकल्पना, पर्यवेक्षण, क्षान्ति, इच्छा, विशिष्ट विभाग, दर्शन तथा अधिगम करते हैं उसी को **'विपश्यना'** कहा जाता है और उस प्रकार से बोधिसत्त्व की विपश्यना में कुशलता होती है ।''

दེ་ལ་རྣལ་འབྱོར་པ་ཞི་གནས་མངོན་པར་བསྒྲུབ་པར་འདོད་པས་ཐོག་མར་རེ་ཞིག་མདོའི་སྡེ་དང་། དབྱངས་ཀྱིས་བསྙད་པའི་སྡེ་ལ་སོགས་པ་གསུང་རབ་མཐའ་དག་ནི་དེ་བཞིན་ཉིད་ལ་གཞོལ་བ། དེ་བཞིན་ཉིད་ལ་བབ་པ། དེ་བཞིན་ཉིད་ལ་འབབ་པའོ་ཞེས་ཐམས་ཅད་བསྡུས་ཏེ་དེ་ལ་སེམས་ཉེ་བར་བཞག་པར་བྱའོ།། རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ན་རྣམ་པ་ཇི་ཙམ་གྱིས་ཆོས་ཐམས་ཅད་བསྡུས་པར་གྱུར་པ་ཕུང་པོ་ལ་སོགས་

པ་དེ་ལ་སེམས་ཉེ་བར་བཞག་པར་བྱའོ། །རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ནི་ཇི་ལྟར་མཐོང་བ་དང་། ཇི་ལྟར་ཐོས་པའི་སངས་རྒྱས་ཀྱི་སྐུ་གཟུགས་ལ་སེམས་གཞག་པར་བྱ་སྟེ། **འཕགས་པ་ཏིང་ངེ་འཛིན་གྱི་རྒྱལ་པོ་**ལས་ཇི་སྐད་དུ།

གསེར་གྱི་ཁ་དོག་ལྟ་བུའི་སྐུ་ལུས་ཀྱིས།།
འཇིག་རྟེན་མགོན་པོ་ཀུན་ཏུ་མཛེས་པ་སྟེ།།
དམིགས་པ་དེ་ལ་གང་གིས་སེམས་འཇུག་པ།།
བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་དེ་མཉམ་བཞག་ཅེས་བྱ།།

ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ།།

वहाँ शमथ का अभिनिर्हार (=पूर्ति) करने के इच्छुक योगी को शुरू में तो सूत्र वर्ग, गेयवर्ग आदि का समस्त प्रवचन तथता परायणता, तथता में उतरना, तथता की ओर आ जाना, इस प्रकार के सभी संग्रह करके उन पर चित्त को उपस्थापित करना (=रखना) चाहिए । एक तरह से जितने भी आकारों में सभी धर्मों को संग्रहीत करके स्कन्ध आदि में चित्त को उपस्थापित करना चाहिए । एक प्रकार से तो जैसी देखी और सुनी गयी थी (उसी) बुद्ध की प्रतिमा पर चित्त को स्थापित करना चाहिए क्योंकि **आर्यसमाधिराज** में इस तरह कहा है—

"सोने के रंग के समान शरीर से,
लोकनाथ (बुद्ध) सभी जगह सुशोभित हैं ।
उस आलम्बन पर जिस का चित्त प्रवृत्त होता है,
वह बोधिसत्त्व उस पर समाहित कहा जाता है ।।"

དེ་ལྟར་གང་ལ་འདོད་པའི་དམིགས་པ་དེ་ལ་སེམས་བཞག་ནས་དེ་ཉིད་ལ་ཕྱིར་ཞིང་རྒྱུན་དུ་སེམས་བཞག་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་ཉེ་བར་བཞག་ནས་སེམས་ལ་འདི་ལྟར་དཔྱད་པར་བྱ་སྟེ། ཅི་དམིགས་པ

ཞིགས་པར་འཛིན་ཏམ། འོན་ཏེ་བྱིང་ངམ། འོན་ཏེ་ཕྱི་རོལ་གྱི་ཡུལ་ལ་རྣམ་པར་འཕྲུར་བས་རྣམ་པར་གཡེངས་སམ་སྙམ་དུ་བརྟག་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་གལ་ཏེ་རྨུགས་པ་དང་གཉིད་ཀྱིས་ནོན་ནས་སེམས་བྱིང་ངམ། བྱིང་དུ་དོགས་པ་མཐོང་བ་དེའི་ཚེ། མཆོག་ཏུ་དགའ་བའི་དངོས་པོ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་སྐུ་གཟུགས་ལ་སོཏ་པའམ། སྣང་བའི་འདུ་ཤེས་ཡིད་ལ་བྱའོ། །དེ་ནས་བྱིང་བ་ཞི་བར་བྱས་ནས་ཅི་ནས་ཀྱང་དམིགས་པ་དེ་ཉིད་ལ་སེམས་ཀྱིས་དམིགས་པ་ཤིན་ཏུ་གསལ་བར་མཐོང་བར་གྱུར་པ་དེ་ལྟར་བྱའོ།།

इस प्रकार जिस पर इच्छा हो उस आलम्बन पर चित्त स्थापित करके उसी पर उत्तरोत्तर सदा चित्त को स्थापित करना चाहिए । उस पर उपस्थिापित करके इस प्रकार से चित्त का परीक्षण करना है कि क्या आलम्बन सुगृहीत (=अच्छा ग्रहण किया) है अथवा लीन ही हो जाता है या बाह्य विषय पर आसक्त होने से विक्षिप्त हो जाता है । ऐसी परीक्षा करनी चाहिए । इसमें यदि स्त्यान अथवा मिद्ध से अभिभूत होकर चित्त लीन रहने अथवा लीन (=मग्न) होने की शङ्का दिखाई पड़े, उसी समय परम आनन्द देने वाली वस्तु बुद्ध की मूर्ति (=प्रतिमा) आदि या आलोक संज्ञा वाला मनसिकार करना चाहिए । इसके बाद लय (=मग्न) को शान्त करके किसी भी तरह उसी आलम्बन पर चित्त का आलम्बन (=ध्यान करने का विषय) अत्यन्त स्पष्ट दीख पड़े, उसी प्रकार करना चाहिए ।

གང་གི་ཚེ་དམུས་ལོང་ལྟ་བུའམ། མི་མུན་པར་ཞུགས་པ་ལྟ་བུའམ། མིག་བཙུམས་པ་ལྟ་བུར་སེམས་ཀྱིས་དམིགས་པ་ཤིན་ཏུ་གསལ་བར་མི་མཐོང་བ་དེའི་ཚེ་བྱིང་བར་གྱུར་བར་རིག་པར་བྱའོ།།
གང་གི་ཚེ་ཕྱི་རོལ་གྱི་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ལ་དེ་དག་གི་ཡོན་ཏན་རྟོག་པས་

རྒྱུག་པའི་ཕྱིར་རམ། གཞན་ཡིད་ལ་བྱེད་པས་སམ། སྔོན་མྱོང་བའི་ཡུལ་ལ་འདོད་པས་སེམས་རྒོད་པའམ་རྒོད་དུ་དོགས་པར་མཐོང་བ་དེའི་ཚེ་འདུ་བྱེད་ཐམས་ཅད་མི་རྟག་པ་དང་། སྡུག་བསྔལ་བ་ལ་སོགས་པ་ཡིད་འབྱུང་བར་འགྱུར་བའི་དངོས་པོ་ཡིད་ལ་བྱའོ།།

जब जन्म से ही अन्धे की तरह, या अन्धकार में प्रवेश किये हुए मनुष्य की तरह अथवा आँखें बन्द किये हुए (व्यक्ति) की भाँति चित्त आलम्बन (=ध्यान के विषय) को अत्यन्त स्पष्ट नहीं देख पाता है, तब उसको लीन (=मग्न) हुआ समझ लेना चाहिए जब बाहर के रूप आदि में उन के गुण की कल्पना से दौड़ने के कारण से या अन्य के मनसिकार से अथवा पूर्व अनुभव में आये विषय की इच्छा से चित्त में औद्धत्य हो या औद्धत्य होने की शङ्का दिखाई पड़े तब सभी संस्कार अनित्य, दुःख आदि मनः संवेग प्रदत्त वस्तुओं का मनसिकार करना चाहिए ।

དེ་ནས་རྣམ་པར་གཡེང་བ་ཞི་བར་བྱས་ནས་དྲན་པ་དང་ཤེས་བཞིན་གྱི་ཐག་པས་ཡིད་ཀྱི་གླང་པོ་ཆེ་དམིགས་པའི་སྡོང་པོ་དེ་ཉིད་ལ་གདགས་པར་བྱའོ།། གང་གི་ཚེ་བྱིང་བ་དང་རྒོད་པ་མེད་པར་གྱུར་ཏེ། དམིགས་པ་དེ་ལ་སེམས་རྣལ་དུ་འཇུག་པར་མཐོང་བ་དེའི་ཚེ་ནི་རྩོལ་བ་གློད་ལ་བཏང་སྙོམས་སུ་བྱ་ཞིང་། དེའི་ཚེ་ཇི་སྲིད་འདོད་ཀྱི་བར་དུ་འདུག་པར་བྱའོ། །དེ་ལྟར་ཞི་གནས་གོམས་པར་བྱས་པ་དེའི་ལུས་དང་སེམས་ཤིན་དུ་སྦྱངས་པར་གྱུར་པ་དང་། ཇི་ལྟར་འདོད་པ་བཞིན་དུ་དམིགས་པ་ལ་སེམས་རང་དབང་དུ་གྱུར་པ་དེའི་ཚེ་དེའི་ཞི་གནས་གྲུབ་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ།།

उसके बाद विक्षेप को शान्त करके स्मृति और संप्रजन्य की रस्सी से मनरूपी हाथी को उसी आलम्बन रूपी वृक्ष से बाँधकर रखना

चाहिए । जब लय और औद्धत्य का अभाव होकर उस आलम्बन पर चित्त समाहित दिखाई दे, तब प्रयत्न को ढीला करके उपेक्षा करें । उस समय जब तक इच्छा हो तब तक बैठे रहें । उस तरह शमथ का अभ्यास करने वाले उस (साधक) को जब शरीर तथा चित्त की प्रश्रब्धि प्राप्त हो जाए और जैसे इच्छा हो उसी तरह आलम्बन पर चित्त अपने वश में हो जाये, तब समझना चाहिए कि उसका शमथ सिद्ध हो गया है ।

དེ་ནས་ཞི་གནས་གྲུབ་ནས་ལྷག་མཐོང་བསྒོམ་པར་བྱ་སྟེ། འདི་སྙམ་དུ་བསམ་པར་བྱའོ། །བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་བཀའ་ཐམས་ཅད་ནི་ལེགས་པར་གསུངས་པ་སྟེ། མངོན་སུམ་མམ་བརྒྱུད་པས་དེ་ཁོ་ན་མངོན་པར་གསལ་བར་བྱེད་པ་དང་། དེ་ཁོ་ན་ལ་གཞོལ་བ་ཉིད་དོ།། དེ་ཁོ་ན་ཤེས་ན་སྣང་བ་བྱུང་བས་མུན་པ་བསལ་བ་བཞིན་དུ་ལྟ་བའི་དྲྭ་བ་ཐམས་ཅད་དང་བྲལ་བར་འགྱུར་རོ། །ཞི་གནས་ཙམ་གྱིས་ནི་ཡེ་ཤེས་དག་པར་མི་འགྱུར་ཞིང་སྒྲིབ་པའི་མུན་པ་ཡང་སེལ་བར་མི་འགྱུར་གྱི། ཤེས་རབ་ཀྱིས་ནི་དེ་ཁོ་ན་ལེགས་པར་བསྒོམས་ན་ཡེ་ཤེས་རྣམ་པར་དག་པར་འགྱུར། ཤེས་རབ་ཁོ་ནས་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་རྟོགས་པར་འགྱུར། ཤེས་རབ་ཁོ་ནས་སྒྲིབ་པ་ཡང་དག་པར་སྤོང་བར་འགྱུར་ཏེ། དེ་ལྟ་བས་ན་བདག་གིས་ཞི་གནས་ལ་གནས་ཏེ་ཤེས་རབ་ཀྱིས་དེ་ཁོ་ན་ཡོངས་སུ་བཙལ་བར་བྱའི། ཞི་གནས་ཙམ་གྱིས་ནི་ཆོག་པར་འཛིན་པར་མི་བྱའོ་སྙམ་དུ་བསམ་མོ།།

इसके बाद शमथ सिद्ध करके विपश्यना की भावना करनी चाहिए और इस प्रकार सोच लेना चाहिए कि भगवान् बुद्ध के सभी वचन सुभाषित हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य साक्षात् या परम्परा से तत्त्व को प्रत्यक्ष रूप में प्रकाशित करने वाले और तत्त्व में उतारने वाला होता है।

तत्त्व का ज्ञान होने पर दृष्टि के सभी जालों से मुक्त हो जाता है, जैसे प्रकाश के उदय होने से अन्धकार का निरास होता है । शमथ मात्र से तो ज्ञान की विशुद्धि नहीं होती और न ही आवरण के अन्धकार का नाश होगा । प्रज्ञा के द्वारा तत्त्व की सम्यग् रूप से भावना करें तो ज्ञान की विशुद्धि होती है । प्रज्ञा मात्र से तत्त्व का बोध होता है । प्रज्ञा से ही आवरण का सम्यग् रूप से प्रहाण होता है । इसलिए ऐसा सोचना चाहिए—'मुझे शमथ में स्थित होकर प्रज्ञा के द्वारा तत्त्व की पूर्ण खोज (=परिगवेषणा) करनी चाहिए, शमथ मात्र से सन्तोष नहीं करना है ।'

དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ལྟ་བུ་ཞེ་ན། གང་དོན་དམ་པར་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་གང་ཟག་དང་ཆོས་ཀྱི་བདག་གཉིས་ཀྱིས་སྟོང་པ་ཉིད་དེ། དེ་ཡང་ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པས་རྟོགས་པར་འགྱུར་གྱི། གཞན་གྱིས་ནི་མ་ཡིན་ཏེ། **འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་བ་**ལས། "བཅོམ་ལྡན་འདས་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔས་ཆོས་རྣམས་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་མ་མཆིས་པ་ཉིད་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་གང་གིས་འཛིན་པ་ལགས། སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་ཕྱུག ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པས་འཛིན་ཏོ།།" ཞེས་ཇི་སྐད་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་ཞི་གནས་ལ་གནས་ཏེ་ཤེས་རབ་བསྒོམ་པར་བྱའོ།།

तत्त्व किस प्रकार का है ? जो परमार्थतः सभी वस्तु पुद्गल (=ज्ञाता) और धर्म (=ज्ञेय) आत्माओं से शून्य है, और वह भी प्रज्ञापारमिता के द्वारा जाना जाता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि जैसे **आर्यसन्धिनिर्मोन सूत्र** में कहा गया है– "भगवन् ! बोधिसत्त्व द्वारा धर्मों की निःस्वभावता किस पारमिता से ग्रहण की जा सकेगी ? अवलोकितेश्वर ! प्रज्ञापारमिता से ग्रहण की जाएगी ।" इसलिए शमथ में स्थित होकर प्रज्ञा की भावना करें ।

དེ་ལ་རྣལ་འབྱོར་པས་འདི་ལྟར་རྣམ་པར་དཔྱད་པར་བྱ་སྟེ།
གང་ཟག་ནི་ཕུང་པོ་དང་ཁམས་དང་སྐྱེ་མཆེད་ལས་གུད་ན་མི་དམིགས་སོ།།
གང་ཟག་ནི་ཕུང་པོ་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱང་མ་ཡིན་ཏེ། ཕུང་པོ་
ལ་སོགས་པ་དེ་དག་ནི་མི་རྟག་པ་དང་དུ་མའི་ངོ་བོ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་དང་།
གང་ཟག་ནི་རྟག་པ་དང་། གཅིག་པུའི་ངོ་བོ་ཡིན་པར་གཞན་དག་གིས་
བརྟགས་པའི་ཕྱིར་རོ།། དེ་ཉིད་དམ་གཞན་དུ་བརྗོད་དུ་མི་རུང་བའི་
གང་ཟག་གི་དངོས་པོ་ཡོད་པར་མི་རུང་སྟེ། དངོས་པོ་ཡོད་པའི་རྣམ་པ་
གཞན་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་འདི་ལྟ་སྟེ། འཇིག་རྟེན་གྱི་
ང་དང་ངའི་ཞེས་བྱ་བ་འདི་ནི་འཁྲུལ་པ་ཁོ་ནའོ་ཞེས་དཔྱད་པར་བྱའོ།།

वहाँ योगी को इस प्रकार विचार करना चाहिए कि पुद्गल स्कन्ध, धातु और आयतन से अलग उपलब्ध नहीं होता है । पुद्गल स्कन्ध आदि के स्वभाव का भी नहीं है, क्योंकि वे स्कन्ध आदि अनित्य तथा अनेक स्वभाव के हैं और जबकि पुद्गल नित्य और एक स्वभाव के रूप में होने का अन्यों[1] द्वारा परिकल्पना की गई है । तत्त्वतः या अनिर्वचनीय (=जो दूसरों को बोला न जा सके ऐसे) पुद्गल का वस्तु होना अयुक्त है, क्योंकि वस्तु की सत्ता (=होने) का (तत और तदेतर से) कोई अन्य प्रकार नहीं होता है । अतः इस प्रकार जगत् का "मैं" और "मेरा" (जो) कहा जाता है यह तो भ्रम ही है, ऐसा विचार करना चाहिए ।

ཆོས་ལ་བདག་མེད་པ་ཡང་འདི་ལྟར་བསྒོམ་པར་བྱ་སྟེ། ཆོས་
ཞེས་བྱ་བ་ནི་མདོར་བསྡུས་ན་ཕུང་པོ་ལྔ་དང་། སྐྱེ་མཆེད་བཅུ་གཉིས་
དང་། ཁམས་བཅོ་བརྒྱད་དོ། །དེ་ལ་ཕུང་པོ་དང་། སྐྱེ་མཆེད་

---

१. बौद्धों के अतिरिक्त अन्य जितने भी मत हैं, जो आत्मा अथवा स्व को नित्य, अजर, अमर आदि मानते हैं ।

དང་། ཁམས་གཟུགས་ཅན་གང་དག་ཡིན་པ་དེ་དག་ནི་དོན་དམ་པར་ན་སེམས་ཀྱི་རྣམ་པ་ལས་གུད་ན་མེད་དེ། དེ་དག་རྡུལ་ཕྲ་རབ་ཏུ་བཤིག་ལ་རྡུལ་ཕྲ་རབ་རྣམས་ཀྱང་ཆ་ཤས་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་སོ་སོར་བརྟགས་ན་ངོ་བོ་ཉིད་ངེས་པར་གཟུང་དུ་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་ཐོག་མ་མེད་པའི་དུས་ནས་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ཡང་དག་པ་མ་ཡིན་པ་ལ་མངོན་པར་ཞེན་པའི་དབང་གིས་རྨི་ལམ་ན་དམིགས་པའི་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་སྣང་བ་བཞིན་དུ་བྱིས་པ་རྣམས་ལ་སེམས་ཉིད་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ཕྱི་རོལ་དུ་ཆད་པ་བཞིན་དུ་སྣང་གི་དོན་དམ་པར་ན་འདི་ལ་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ནི་སེམས་ཀྱི་རྣམ་པ་ལས་གུད་ན་མེད་དོ་ཞེས་དཔྱད་པར་བྱའོ།། དེ་འདི་སྙམ་དུ་ཁམས་གསུམ་པོ་འདི་ནི་སེམས་ཙམ་མོ་སྙམ་དུ་སེམས་ཤིང་། དེས་དེ་ལྟར་ཆོས་བརྟགས་པ་མཐའ་དག་ནི་སེམས་ཁོ་ན་ཡིན་པར་རྟོགས་ནས་དེ་ལ་སོ་སོར་བརྟགས་ན་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་ལ་སོ་སོར་བརྟགས་པ་ཡིན་ནོ་ཞེས་སེམས་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་ལ་སོ་སོར་རྟོག་གོ། དེ་འདི་ལྟར་དཔྱོད་དོ།།

धर्म नैरात्म्य का भी इसी प्रकार भावना करनी चाहिए । 'धर्म' यह तो संक्षेप में पंच स्कन्ध, बारह आयतन, और अट्ठारह धातुएं हैं, इनमें स्कन्ध, आयतन और धातु, जो रूप वाले हैं वे तो परमार्थतः चित्त के आकार से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि उन सबका परमाणुओं में विभाग करने पर परमाणुओं के भी अंश की स्वभावता का प्रत्येक में परीक्षण करने पर नियत 'स्वभाव' का ग्रहण नहीं होता है । इसलिए अनादिकाल से मिथ्या रूप आदि के प्रति अभिनिवेष के अधीन स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले रूप आदि के आभास की तरह अज्ञानियों को (अपना) चित्त ही बाहर विच्छिन रूप आदि की भाँति प्रतिभासित होता है । परमार्थतः यह रूप आदि चित्त के आकार से भिन्न नहीं है, ऐसा

विचार करना चाहिए । वह इसी के साथ 'त्रैधातुक' (=काम, रूप, अरूप धातु) चित्त मात्र है, ऐसा सोचते हैं । उस तरह समस्त धर्म-प्रज्ञप्ति को चित्त मात्र ही होने का बोध करके उस पर प्रत्यवेक्षण करें तो सभी धर्मों के स्वभाव का प्रत्यवेक्षण हो जाता है । इस प्रकार के स्वभाव की कल्पना तथा विचार करता है ।

དོན་དམ་པར་ན་སེམས་ཀྱང་བདེན་པར་མི་རུང་སྟེ། གང་གི་ཚེ་བརྫུན་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་རྣམ་པ་འཛིན་པའི་སེམས་ཉིད་སྣ་ཚོགས་ཀྱི་རྣམ་པར་སྣང་བ་དེའི་ཚེ་དེ་བདེན་པ་ཉིད་དུ་ག་ལ་འགྱུར། ཇི་ལྟར་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་བརྫུན་པ་དེ་བཞིན་དུ་སེམས་ཀྱང་དེ་ལས་གུད་ན་མེད་པས་བརྫུན་པ་ཉིད་དོ། །ཇི་ལྟར་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་སྣ་ཚོགས་ཀྱི་རྣམ་པ་ཡིན་པས་གཅིག་དང་དུ་མའི་ངོ་བོ་ཉིད་མ་ཡིན་པ་དེ་བཞིན་དུ་སེམས་ཀྱང་དེ་ལས་གུད་ན་མེད་པའི་ཕྱིར་གཅིག་དང་དུ་མའི་ངོ་བོ་ཉིད་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་སེམས་ནི་སྒྱུ་མ་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་ལྟ་བུ་ཁོ་ནའོ།།

परमार्थत: चित्त का भी सत्य होना युक्त नहीं है, जब 'मिथ्या' स्वभाव वाले रूप आदि का आकार ग्रहण करने वाला चित्त अनेक आकारों में प्रतिभासित होता है तब उसकी सत्यता ही कहाँ होगी ? जैसे रूप आदि मिथ्या है उसी प्रकार चित्त भी इससे भिन्न न होने से मिथ्या (=झूठ) ही है । जैसे रूप आदि अनेक आकार वाले होने से एक तथा अनेक स्वभाव के नहीं हैं उसी प्रकार चित्त भी उससे भिन्न न होने के कारण एक तथा अनेक स्वभाव का नहीं है । इसीलिए चित्त तो माया आदि के स्वभाव के समान ही है ।

སེམས་ཇི་ལྟ་བ་དེ་བཞིན་དུ་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱང་སྒྱུ་མ་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་ལྟ་བུ་ཁོ་ནའོ་ཞེས་དཔྱོད་དོ། །དེས་དེ་ལྟར་ཤེས་རབ

ཀྱིས་སེམས་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་ལ་སོ་སོར་བརྟགས་ན་དོན་དམ་པར་སེམས་ནི་ནང་དུ་ཡང་མི་དམིགས། ཕྱི་རོལ་དུ་ཡང་མི་དམིགས། གཉིས་ཀ་མེད་པར་ཡང་མི་དམིགས། འདས་པའི་སེམས་ཀྱང་མི་དམིགས། མ་འོངས་པ་ཡང་མི་དམིགས། ད་ལྟར་བྱུང་བ་ཡང་མི་དམིགས་སོ།།

चित्त जैसे है उसी तरह सारे धर्म भी माया आदि के स्वभाव के समान ही हैं, ऐसा विचार करना चाहिए । उस (साधक) के द्वारा इस प्रकार प्रज्ञा से चित्त के स्वभाव का प्रत्यवेक्षण किये जाने पर परमार्थत: चित्त भीतर में भी उपलब्ध नहीं होता । बाहर भी उपलब्ध नहीं होता, उभयत: भी उपलब्ध नहीं होता । अतीत (=बीता हुआ) चित्त भी उपलब्ध नहीं होता, अनागत का भी उपलब्ध नहीं होता और वर्तमान भी उपलब्ध नहीं होता है ।

སེམས་སྐྱེ་བའི་ཚེ་གང་ནས་ཀྱང་མི་འོང་། འགག་པའི་ཚེ་གང་དུ་ཡང་མི་འགྲོ་སྟེ། སེམས་ནི་གཟུང་དུ་མེད་པ། བསྟན་དུ་མེད་པ། གཟུགས་ཅན་མ་ཡིན་པའོ། །བསྟན་དུ་མེད་ཅིང་གཟུང་དུ་མེད་ལ་གཟུགས་ཅན་མ་ཡིན་པ་གང་ཡིན་པ་དེའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཅི་འདྲ་ཞེ་ན། **འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་བརྩེགས་པ་**ལས་ཇི་སྐད་གསུངས་པ་ལྟ་བུ་སྟེ། "འོད་སྲུངས་སེམས་ནི་ཡོངས་སུ་བཙལ་ན་མི་རྙེད་དོ། །གང་མ་རྙེད་པ་དེ་མི་དམིགས་སོ། །གང་མི་དམིགས་པ་དེ་འདས་པ་ཡང་མ་ཡིན། མ་འོངས་པ་ཡང་མ་ཡིན། ད་ལྟར་བྱུང་བ་ཡང་མ་ཡིན་ནོ།།" ཞེས་རྒྱ་ཆེར་འབྱུང་ངོ་། །དེས་དེ་ལྟར་བརྟགས་ན་སེམས་ཀྱི་དང་པོ་ཡང་དག་པར་རྗེས་སུ་མི་མཐོང་། ཐ་མ་ཡང་དག་པར་རྗེས་སུ་མི་མཐོང་། བར་མ་ཡང་དག་པར་རྗེས་སུ་མི་མཐོང་ངོ་།།

चित्त उत्पन्न होते समय न तो कहीं से आता है और न निरुद्ध होते समय कहीं जाता है, क्योंकि चित्त तो अग्राह्य (=पकड़े नहीं जाने वाला), अनिदर्शन (=नहीं दिखाई देने वाला), तथा अरूपी है । जो अनिदर्शन है, अग्राह्य है, अरूपी है, उसका स्वभाव किस प्रकार का है ? जैसे— **आर्यरत्नकूट** में कहा गया है (वह) उस प्रकार का है- "काश्यप ! चित्त परिगवेषणा (=पूर्ण खोज) करने पर प्राप्त नहीं होगा । जो प्राप्त नहीं होता, वह अनुपलम्भ (=प्रत्यक्ष नहीं होता) है, (और) जो अनुपलम्भ वह अतीत भी नहीं, अनागत भी नहीं (और) वर्तमान भी नहीं है ।" ऐसा विस्तार से कहा गया है । इस प्रकार परीक्षण करने पर चित्त का आदि (स्वरूप) सम्यग् रूप से दिखाई नहीं पड़ेगा, अन्त भी सम्यग् रूप से दिखाई नहीं पड़ेगा, मध्य भी सम्यग् रूप से दिखाई नहीं पड़ेगा ।

ཇི་ལྟར་སེམས་ལ་མཐའ་དང་དབུས་མེད་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱང་མཐའ་དང་དབུས་མེད་པར་ཁོང་དུ་ཆུད་དོ། །དེས་དེ་ལྟར་སེམས་མཐའ་དང་དབུས་མེད་པར་ཁོང་དུ་ཆུད་ནས་སེམས་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་གང་ཡང་མི་དམིགས་སོ། །སེམས་གང་གིས་ཡོངས་སུ་རྟོགས་པ་དེ་ཡང་སྟོང་པར་རྟོགས་སོ། །དེ་རྟོགས་པས་སེམས་ཀྱི་རྣམ་པར་བསྒྲུབས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱང་ཡང་དག་པར་རྗེས་སུ་མི་མཐོང་ངོ་།།

जिस प्रकार चित्त का अन्त और मध्य नहीं होता उसी प्रकार सभी धर्मों को भी अन्त रहित और मध्य रहित जानना चाहिए । इससे इस प्रकार चित्त को अन्त और मध्य रहित जानने से चित्त स्वभावतः कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ेगी । जिस चित्त का परिज्ञान होता है उसका बोध भी शून्य के रूप में होता है । उसका बोध होने से चित्त के आकार में सिद्ध हुआ स्वभाव रूप आदि का स्वभाव भी सम्यग् रूप से दिखाई नहीं पड़ेगा ।

དེས་དེ་ལྟར་ཤེས་རབ་ཀྱིས་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་ཡང་དག་པར་རྗེས་སུ་མ་མཐོང་བས་གཟུགས་རྟག་གོ་ཞེ་འམ། མི་རྟག་གོ་ཞེའམ། སྟོང་ངོ་ཞེའམ། མི་སྟོང་ངོ་ཞེའམ། ཟག་པ་དང་བཅས་པའོ་ཞེའམ། ཟག་པ་མེད་པའོ་ཞེའམ། སྐྱེ་བའོ་ཞེའམ། མ་སྐྱེ་བའོ་ཞེའམ། ཡོད་པའོ་ཞེའམ། མེད་པའོ་ཞེས་རྟག་པར་མི་བྱེད་དོ། །ཇི་ལྟར་གཟུགས་ལ་རྟོག་པར་མི་བྱེད་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཚོར་བ་དང་། འདུ་ཤེས་དང་། འདུ་བྱེད་དང་། རྣམ་པར་ཤེས་པ་རྣམས་ལ་ཡང་རྟོག་པར་མི་བྱེད་དོ།། ཆོས་ཅན་མ་གྲུབ་ན་དེའི་བྱེ་བྲག་རྣམས་ཀྱང་མི་འགྲུབ་པས་དེ་ལ་རྟོག་པར་ག་ལ་འགྱུར། དེས་དེ་ལྟར་ཤེས་རབ་ཀྱིས་རྣམ་པར་དཔྱད་དེ་གང་གི་ཚེ་རྣལ་འབྱོར་པས་དངོས་པོ་གང་གི་ངོ་བོ་ཉིད་དོན་དམ་པར་ངེས་པར་མི་འཛིན་པ་དེའི་ཚེ་རྣམ་པར་མི་རྟོག་པའི་ཏིང་ངེ་འཛིན་ལ་འཇུག་གོ །ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་མེད་པ་ཉིད་ཀྱང་རྟོགས་སོ།།

वह इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा सभी धर्मों का स्वभाव सम्यग् रूप से दिखाई नहीं पड़ने के कारण रूप नित्य है या अनित्य है, शून्य है या अशून्य है, सास्रव है या अनास्रव है, उत्पन्न है या अनुत्पन्न है, सत् है या असत् है ऐसी कल्पना नहीं करना चाहिए, जिस प्रकार रूप की विकल्पना नहीं करता, उसी प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञानों की भी विकल्पना नहीं करता है । (यदि) धर्मों (का स्वभाव) असिद्ध है तो उसके विशेषणों की भी सिद्धि नहीं होगी । इस कारण से उनकी विकल्प कैसे होगी ? इस प्रकार उसकी प्रज्ञा के द्वारा परीक्षा करने पर जब योगी द्वारा किसी वस्तु के स्वभाव की परमार्थता का निश्चित ग्रहण नहीं होता, तब निर्विकल्प समाधि में प्रविष्ट होता है (और) सभी धर्मों की निःस्वभावता का भी बोध होता है ।

གང་ཤེས་རབ་ཀྱིས་དངོས་པོའི་ངོ་བོ་ཉིད་སོ་སོར་བརྟགས་ནས་མི་བསྒོམ་གྱི། ཡིད་ལ་བྱེད་པ་ཡོངས་སུ་སྤོང་བ་ཙམ་འབའ་ཞིག་སྒོམ་པར་བྱེད་པ་དེའི་རྣམ་པར་རྟོག་པ་ནམ་ཡང་མི་ལྡོག་ཅིང་ངོ་བོ་ཉིད་མེད་པ་ཉིད་རྟོགས་པར་ཡང་མི་འགྱུར་ཏེ། ཤེས་རབ་ཀྱི་སྣང་བ་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །འདི་ལྟར་ཡང་དག་པར་སོ་སོར་རྟོག་པ་ཉིད་ལས་ཡང་དག་པ་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་དུ་ཤེས་པའི་མེ་བྱུང་ན་གཙུབ་ཤིང་གཙུབས་པའི་མེ་བཞིན་དུ་རྟོག་པའི་ཤིང་སྲེག་གོ །ཞེས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

जो प्रज्ञा द्वारा वस्तुओं के स्वभाव का प्रत्यवेक्षण करके भावना नहीं करता (और) केवल मनसिकार के त्यागने मात्र की भावना करता है, उसके विकल्प कभी भी निवृत्त नहीं होते हैं और निःस्वभाव बोध भी नहीं होगा, क्योंकि (उसमें) प्रज्ञा के प्रकाश का अभाव है । इस प्रकार सम्यग् प्रत्यवेक्षण से यथावत सम्यग् ज्ञान की अग्नि उत्पन्न होने पर अरणिमन्थन (=आग उत्पन्न करने वाली लकड़ी के घर्षण से) उत्पन्न अग्नि की तरह कल्पना रूपी वृक्ष को जला डालेगा, ऐसा भगवान् (बुद्ध) ने कहा है ।

འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་སྤྲིན་ལས་ཀྱང་བཀའ་སྩལ་ཏེ།
"དེ་ལྟར་སྐྱོན་ལ་མཁས་པ་དེ་སྤྲོས་པ་ཐམས་ཅད་དང་བྲལ་བར་བྱ་བའི་ཕྱིར་སྟོང་པ་ཉིད་བསྒོམ་པ་ལ་རྣལ་འབྱོར་དུ་བྱེད་དོ། །དེ་སྟོང་པ་ཉིད་ལ་བསྒོམ་པ་མང་བས་གནས་གང་དང་གང་དུ་སེམས་འཕྲོ་ཞིང་སེམས་མངོན་པར་དགའ་བའི་གནས་དེ་དང་དེ་དག་གི་ངོ་བོ་ཉིད་ཡོངས་སུ་བཙལ་ན་སྟོང་པར་རྟོགས་སོ། །སེམས་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་བརྟགས་ན་སྟོང་པར་རྟོགས་སོ།། སེམས་གང་གིས་རྟོགས་པ་དེ་ཡང་ངོ་བོ་ཉིད་ཀུན་ཏུ་བཙལ་ན་སྟོང་པར་རྟོགས་ཏེ། དེ་དེ་ལྟར་རྟོགས་པས་མཚན་མ་མེད་པའི་རྣལ་

འགྱུར་ལ་འཇུག་གོ" །ཞེས་འབྱུང་ངོ་། །འདིས་ནི་ཡོངས་སུ་རྟོག་པ་སྔོན་དུ་གཏོང་བ་ཉིད་མཚན་མ་མེད་པ་ཉིད་ལ་འཇུག་པར་བསྟན་ཏོ།།

आर्यरत्नमेघ (नाम महायान सूत्र) में कहा है—"इस प्रकार दोषों (को दूर करने) में निपुण वह व्यक्ति सभी प्रपञ्चों को दूर करने के लिए शून्यता की भावना का योग करेगा । वह शून्यता की भावना अधिक करने से जिस-जिस स्थान में चित्त फैलता है और चित्त प्रसन्न रहता है, उन-उन स्थानों की स्वभाव का अन्वेषण (=खोज) करने पर (उसे) शून्य का ही बोध होता है । जो चित्त है, उसमें भी परीक्षण करने पर शून्य का ही बोध होता है । जिस चित्त से परीक्षण होता है वह भी परीक्षण करने पर स्वभावतः शून्य ही ज्ञात होता है । वह (साधक) इस प्रकार परीक्षण करने से अनिमित्त योग में प्रवृत्त (=प्रवेश) होता है ।" इससे पर्यवेक्षण पूर्वगामिता को अनिमित्तता में प्रवेश दिखलाया गया है ।

ཡིད་ལ་བྱེད་པ་ཡོངས་སུ་སྤོང་བ་ཙམ་དང་། ཤེས་རབ་ཀྱི་དངོས་པོའི་ངོ་བོ་ཉིད་མི་དཔྱོད་པར་རྣམ་པར་མི་རྟོག་པ་ཉིད་དུ་འཇུག་པ་མི་སྲིད་པར་ཤིན་ཏུ་གསལ་བར་བསྟན་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟར་དེ་ཤེས་རབ་ཀྱིས་གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་དངོས་པོའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཡང་དག་པ་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་དུ་བརྟགས་ནས་བསམ་གཏན་བྱེད་ཀྱི། གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ལ་གནས་ནས་བསམ་གཏན་མི་བྱེད་ཅིང་། འཇིག་རྟེན་འདི་དང་འཇིག་རྟེན་ཕ་རོལ་གྱི་བར་ལ་གནས་ནས་བསམ་གཏན་མི་བྱེད་དེ། གཟུགས་ལ་སོགས་པ་དེ་དག་མི་དམིགས་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་མི་གནས་པའི་བསམ་གཏན་པ་ཞེས་བྱའོ།།

मनसिकार के पूर्ण त्यागने मात्र से और प्रज्ञा के द्वारा वस्तु के स्वभाव पर विचार किये बिना निर्विकल्पता में प्रवेश सम्भव न होना अत्यन्त स्पष्ट रूप से बताया गया है । इस प्रकार वह प्रज्ञा के द्वारा रूप

आदि वस्तु के स्वभाव का यथावत् सम्यग् परीक्षण करके ध्यान करना होता है, पर रूप आदि में स्थित होकर ध्यान नहीं करता है । इस लोक और परलोक के बीच रह कर समाधि नहीं करता है; क्योंकि वे रूप आदि (वहाँ) उपलब्ध नहीं होते हैं, इसलिए (उसे) 'अप्रतिष्ठितध्यान' कहा जाता है ।

ཤེས་རབ་ཀྱིས་དངོས་པོ་མཐའ་དག་གི་ངོ་བོ་ཉིད་ལ་སོ་སོར་བརྟགས་ནས་གང་གི་ཕྱིར་མི་དམིགས་པར་བསམ་གཏན་བྱེད་པ་དེའི་ཕྱིར་ཤེས་རབ་མཆོག་གི་བསམ་གཏན་པ་ཞེས་བྱ་སྟེ། **འཕགས་པ་ནམ་མཁའ་མཛོད་**དང་། **འཕགས་པ་གཙུག་ན་རིན་པོ་ཆེ་**ལ་སོགས་པ་ལས་བསྟན་པ་བཞིན་ནོ།།

प्रज्ञा के द्वारा समग्र वस्तुओं की स्वभाव का प्रत्यवेक्षण (=प्रत्येक का परीक्षण) करके, जिस कारण से वे अनुपलम्भ हैं, उसी का ध्यान किया जाता है, इस लिए 'प्रज्ञोत्तरध्यान' (=उत्तम प्रज्ञा का ध्यान) कहा जाता है, क्योंकि जैसे '**आर्यगगनगञ्ज**' और **रत्नचूड**' आदि में कहा गया है ।

དེ་ལྟར་གང་ཟག་དང་ཆོས་ལ་བདག་མེད་པའི་དེ་ཁོ་ན་ལ་ཞུགས་པ་དེ་ཡོངས་སུ་བརྟག་པར་བྱ་བ་བལྟ་བར་བྱ་བ་གཞན་མེད་པས་རྟོག་པ་དང་དཔྱོད་པ་དང་བྲལ་བ། བརྗོད་པ་མེད་པ་དང་གཅིག་ཏུ་གྱུར་པའི་ཡིད་ལ་བྱེད་པ་རང་གི་ངང་གིས་འཇུག་པ་མངོན་པར་འདུ་བྱེད་པ་མེད་པས་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ལ་ཤིན་ཏུ་གསལ་བར་བསྒོམ་ཞིང་འདུག་པར་བྱའོ། །དེར་གནས་ནས་སེམས་ཀྱི་རྒྱུན་རྣམ་པར་མི་གཡེང་བར་བྱའོ།།

इस प्रकार वह पुद्गल तथा धर्म नैरात्म्य (=आत्मा रहित) तत्त्व में प्रवेश होता है (और) वह पूर्ण परीक्षा करने से तथा दर्शनीय न होने से, वितर्क (=कल्पना) तथा विचार से रहित, अनभिलाप्य (=वाणी से

बोला नहीं जा सकता है) और एक रूप वाला मनसिकार में अपने आप प्रवेश कर, अनभिसंस्कार (=बिना किसी प्रयत्न के) तत्त्व की अत्यन्त स्पष्ट भावना करते हुए बैठे रहे । वहाँ रहकर (=इस प्रकार रह कर) चित्त के सन्तान (=निरन्तरता) को विक्षिप्त (=भटकने) नहीं होने देना चाहिए।

གང་གི་ཚེ་བར་སྐབས་སུ་འདོད་ཆགས་ལ་སོགས་པས་སེམས་ཕྱི་རོལ་དུ་རྣམ་པར་གཡེང་བ་དེའི་ཚེ་རྣམ་པར་གཡེང་བ་ཚོར་བར་བྱས་ལ་མྱུར་དུ་མི་སྡུག་པ་བསྒོམ་པ་ལ་སོགས་པས་རྣམ་པར་གཡེང་བ་ཞི་བར་བྱས་ནས་མྱུར་དུ་དེ་བཞིན་ཉིད་ལ་སེམས་ཕྱིར་ཞིང་འཇུག་པར་བྱའོ། །གང་གི་ཚེ་དེ་ལ་སེམས་མངོན་པར་མི་དགའ་བར་མཐོང་བ་དེའི་ཚེ་ཏིང་འཛིན་གྱི་ཡོན་ཏན་མཐོང་བས་དེ་ལ་མངོན་པར་དགའ་བ་བསྒོམ་པར་བྱའོ།། རྣམ་པར་གཡེང་བ་ལ་ཉེས་པར་མཐོང་བས་ཀྱང་མི་དགའ་བ་རབ་ཏུ་ཞི་བར་བྱའོ། །

जब बीच में राग आदि (क्लेशों) से चित्त बाहर विक्षिप्त हो (=भटकता) जाता है, उस समय 'विक्षिप्त हुआ (=चित्त भटक गया)' (ऐसा) जान कर जल्दी से अशुभ की भावना आदि से विक्षिप्त (=भटके हुए चित्त) को शान्त (=स्थिर) करके शीघ्र ही तथता में पुनः चित्त को लगा देना चाहिए । जिस समय तक वहाँ (समाधि में) चित्त प्रसन्न न दिखाई दे उस समय (तक) समाधि के गुणों को देखने से वहाँ (समाधि में) प्रसन्नता (=अभिरति) की भावना करनी चाहिए । विक्षेप में दोष (=बुराई) दीखने पर भी अनभिरति (=अप्रसन्नता) को शान्त करना चाहिए ।

ཇི་སྟེ་རྨུགས་པ་དང་གཉིད་ཀྱིས་ནོན་ཏེ་རྒྱུ་བ་མི་གསལ་བས་སེམས་བྱིང་ངམ་བྱིང་དུ་དོགས་པར་མཐོང་བ་དེའི་ཚེ་གོང་མ་བཞིན་དུ་

མཆོག་ཏུ་དགའ་བའི་དངོས་པོ་ཡིད་ལ་བྱེད་པས་མྱུར་དུ་བྱིང་བ་ཞི་བར་
བྱས་ལ། ཡང་དམིགས་པ་དེ་ཁོ་ན་དེ་ཉིད་ཤིན་ཏུ་དམ་པོར་གཟུང་བར་
བྱའོ། །

यदि स्त्यान (=ढीलापन) और मिद्ध (=सुस्ती या नींद आने की अवस्था) से अभिभूत होकर संचार (=चित्त का व्यवहार) अस्पष्ट होने से चित्त के लय (=मन की लीनता) या लीन (=चिपका हुआ सा मस्त) होने की शङ्का दिखाई पड़े, उस समय पहले की तरह परममुदित (=परम आनन्द) वस्तु के मनसिकार से शीघ्र 'लय' (=मन की लीनता) को शान्त करके पुनः उसी आलम्बन (=समाधि विषय) तत्त्व को अत्यन्त दृढ़ता (=पक्का) से ग्रहण करना चाहिए ।

ཇི་སྟེ་གང་གི་ཚེ་སྔོན་བགད་པ་དང་། རྩེས་པ་རྗེས་སུ་དྲན་
པས་བར་སྐབས་སུ་སེམས་འཕྱུར་བའམ་རྒོད་དུ་དོགས་པར་མཐོང་བ་དེའི་
ཚེ་གོང་མ་བཞིན་དུ་མི་རྟག་པ་ལ་སོགས་པ་ཡིད་འབྱུང་བར་འགྱུར་བའི་
དངོས་པོ་ཡིད་ལ་བྱས་ལ་གཡེང་བ་ཞི་བར་བྱ་ཞིང་། དེ་ནས་ཡང་དེ་ཁོ་
ན་ཉིད་ལ་སེམས་མངོན་པར་འདུ་བྱེད་པ་མེད་པར་འཇུག་པར་འབད་པར་
བྱའོ།།

यदि पहले के हँसने तथा खेलने का अनुस्मरण (=पुनः याद) होकर बीच में चित्त के समुद्धत होने पर या औद्धत्य (=ढीठपन) का सन्देह दिखाई पड़े, उस समय पहले की तरह ही अनित्यता आदि घृणा होने की वस्तुओं का मनसिकार करके विक्षेप (=भटके चित्त) को शान्त करें । उसके बाद फिर से उसी तत्त्व में चित्त अभिसंस्कार से रहित हो, प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

ཇི་སྟེ་གང་གི་ཚེ་བྱིང་བ་དང་རྒོད་པ་དང་བྲལ་བར་གྱུར་ནས་
མཉམ་པར་ཞུགས་ཏེ་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ལ་སེམས་རང་གི་ངང་གིས་འཇུག་པར་

འགྱུར་བ་དེའི་ཚེ་རྩོལ་བ་གློད་དེ་བཏང་སྙོམས་སུ་བྱའོ། །གལ་ཏེ་སེམས་མཉམ་པར་ཞུགས་པ་ལ་བརྩལ་བ་བྱས་དེའི་ཚེ་སེམས་རྣམ་པར་གཡེང་བར་འགྱུར་རོ། །གལ་ཏེ་སེམས་བྱིང་བར་གྱུར་པ་ལ་བརྩལ་བར་མ་བྱས་ན་དེའི་ཚེ་ཤིན་ཏུ་བྱིང་བས་ལྷག་མཐོང་མེད་དེ། སེམས་དམུས་ལོང་བཞིན་དུ་འགྱུར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་སེམས་བྱིང་བར་གྱུར་ན་བརྩལ་བར་བྱའོ། །མཉམ་པར་གྱུར་ན་བརྩལ་བར་མི་བྱའོ།།

यदि जिस समय लय और औद्धत्य से हट कर समान रूप से तत्त्व पर चित्त अपने आप लग जाता है उस समय प्रयत्न को ढीला करके उपेक्षा (भाव) से रहें । यदि चित्त के समाहित होने पर भी प्रयत्न किया जाए तो उस समय चित्त विक्षिप्त हो (भटक) जाएगा । यदि चित्त के लीन हो जाने पर प्रयत्न न करें तो उस समय अत्यन्त लीनता (=अत्यन्त सुस्त हो जाने) के कारण विपश्यना नहीं होगी, क्योंकि चित्त अन्धे की भाँति हो जाएगा । इसलिए चित्त लीन हो जाने पर यत्न करें । समता हो जाने पर यत्न नहीं करना चाहिए ।

གང་གི་ཚེ་ལྷག་མཐོང་བསྒོམས་པས་ཤེས་རབ་ཤིན་ཏུ་ཤས་ཆེ་བར་གྱུར་པ་དེའི་ཚེ་ཞི་གནས་ཆུང་བས་མར་མེ་རླུང་ལ་བཞག་པ་བཞིན་དུ་སེམས་གཡོ་བར་འགྱུར་ཏེ། དེའི་ཕྱིར་དེ་ཁོ་ན་ཤིན་ཏུ་གསལ་བར་མཐོང་བར་མི་འགྱུར་ཏེ། དེ་བས་ན་དེའི་ཚེ་ཞི་གནས་བསྒོམ་པར་བྱའོ།། ཞི་གནས་ཀྱི་ཤས་ཆེ་བར་གྱུར་ན་ཡང་ཤེས་རབ་བསྒོམ་པར་བྱའོ།།

जिस समय विपश्यना की भावना करने से प्रज्ञा अत्यन्त बढ़ जाती है, उस समय शमथ की कमी के कारण हवा में रखे गये दीपक के समान चित्त चञ्चल (=विक्षिप्त) हो जाने से तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ेगा । इसीलिये उस समय शमथ की भावना करनी चाहिए । (और) शमथ की अत्यन्त अधिकता हो जाने पर प्रज्ञा की भावना करनी चाहिए ।

གང་གི་ཚེ་གཉིས་ཀ་མཉམ་དུ་འཇུག་པའི་ཚེ་ལུས་དང་སེམས་ལ་གནོད་པར་མ་གྱུར་གྱི་བར་དུ་མངོན་པར་འདུ་བྱེད་པ་མེད་པར་གནས་པར་བྱའོ། །ལུས་ལ་སོགས་པ་ལ་གནོད་པར་གྱུར་ན་དེའི་བར་སྐབས་སུ་འཇིག་རྟེན་མཐའ་དག་སྒྱུ་མ་དང་། སྨིག་རྒྱུ་དང་། རྨི་ལམ་དང་། ཆུ་ཟླ་དང་། མིག་ཡོར་ལྟ་བུར་ལྟ་ཞིང་འདི་སྙམ་དུ་བསམ་པར་བྱ་སྟེ། སེམས་ཅན་འདི་དག་ནི་ཆོས་ཟབ་མོ་འདི་ལྟ་བུ་ཁོང་དུ་མ་ཆུད་པས་འཁོར་བ་ན་ཀུན་ཏུ་ཉོན་མོངས་པར་འགྱུར་གྱིས། བདག་གིས་ཅི་ནས་ཀྱང་དེ་དག་ཆོས་ཉིད་དེ་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་འགྱུར་བ་དེ་ལྟར་བྱའོ་སྙམ་དུ་བསམ་ཞིང་། སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོ་དང་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་མངོན་དུ་བྱའོ། །དེ་ནས་ངལ་བསོ་ལ། ཡང་དེ་བཞིན་དུ་ཆོས་ཐམས་ཅད་སྣང་བ་མེད་པའི་ཏིང་ངེ་འཛིན་ལ་འཇུག་པར་བྱའོ།།

जब दोनों ही समान रूप से प्रवृत्त हो जायें, उस समय जब तक शरीर एवं चित्त में पीड़ा (=कष्ट) न लगे, तब तक अभिसंस्कार रहित स्थित रहना चाहिए । काय आदि में पीड़ा (=कष्ट) होने पर, इस बीच समस्त जगत को माया (=जादूगर), मरीचि, स्वप्न, जलचन्द्र (=स्वच्छ पानी में चन्द्रमा की प्रतिबिम्ब), तथा प्रतिभास (=झलक) की भाँति देखकर यह सोचना चाहिए कि—"ये प्राणी तो इस प्रकार के गम्भीर धर्म को नहीं जानने के कारण संसार में संक्लिष्ट (=सदा क्लेश मन वाले) हो गये हैं, अतः मैं किसी भी तरह उन्हें (=प्राणियों को) धर्मता का ज्ञान करा सकूँ, अवश्य ही (मैं) ऐसा ही करूँगा" ऐसा सोचकर महाकरुणा और बोधिचित्त को अभिमुख (=साक्षात्कार) करना चाहिए। इसके बाद विश्राम (=आराम) करके फिर उसी प्रकार सब धर्म निराभास समाधि में लग जाना चाहिए ।

ཡང་སེམས་ཤིན་ཏུ་སྐྱོ་བར་གྱུར་ན་དེ་བཞིན་དུ་ངལ་གསོ་བར་བྱའོ།། འདི་ནི་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་ཟུང་དུ་འབྲེལ་བར་འཇུག་པའི་

ལམ་སྟེ་རྣམ་པར་རྟོག་པ་དང་བཅས་པ་དང་། རྣམ་པར་མི་རྟོག་པའི་
གཟུགས་བརྙན་ལ་དམིགས་པའོ།།

फिर (जब) चित्त बहुत ही उदास हो जाए तो, उसी प्रकार आराम करना चाहिए । यह शमथ तथा विपश्यना के युगल (=दोनों एक साथ लगने का) मार्ग है, जो सवितर्क और अवितर्क प्रतिबिम्ब पर आलम्बित (=केन्द्रित) है ।

དེ་ལྟར་རྣལ་འབྱོར་པས་རིམ་པ་འདིས་ཆུ་ཚོད་གཅིག་གམ།
མེལ་ཚེ་ཐུན་ཕྱེད་དམ། ཐུན་གཅིག་གམ། ཇི་སྲིད་འདོད་ཀྱི་བར་དུ་
དེ་ཁོ་ན་བསྒོམ་ཞིང་འདུག་པར་བྱའོ། །འདི་ནི་དོན་རབ་ཏུ་རྣམ་པར་
འབྱེད་པའི་བསམ་གཏན་ཏེ། **འཕགས་པ་ལང་ཀར་གཤེགས་པ་**
ལས་བསྟན་ཏོ། །དེ་ནས་འདོད་ན་ཏིང་ངེ་འཛིན་ལས་ལངས་ཏེ་སྐྱིལ་
མོ་ཀྲུང་མ་བཤིག་པར་འདི་སྙམ་དུ་ཆོས་འདི་དག་ཐམས་ཅད་དོན་དམ་
པར་ངོ་བོ་ཉིད་མེད་པ་ཉིད་ཡིན་དུ་ཟིན་ཀྱང་། ཀུན་རྫོབ་ཏུ་རྣམ་པར་
གནས་པ་ཉིད་དོ། །དེ་ལྟ་མ་ཡིན་ན་ལས་དང་འབྲས་བུ་འབྲེལ་བ་ལ་
སོགས་པ་ཇི་ལྟར་རྣམ་པར་གནས་པར་འགྱུར། བཅོམ་ལྡན་འདས་
ཀྱིས་ཀྱང་།

དངོས་པོ་སྐྱེ་བ་ཀུན་རྫོབ་ཏུ།།
དམ་པའི་དོན་དུ་རང་བཞིན་མེད། །ཅེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

इस प्रकार योगी इस क्रम से एक घण्टा या आधा प्रहर अथवा एक याम या जितना भी रहना चाहे उतने समय तक, तत्त्व की भावना करते हुए बैठे रहें । यह 'अर्थप्रविचय ध्यान' कहलाता है, जो '**आर्यलङ्कावतार** (सूत्र)' में कहा गया है । उसके बाद अगर चाहे तो समाधि से उठकर पर्यङ्क (=समाधि-अवस्था में योगी के बैठने की

विशेष अंग स्थिति) को बिना खोले इस प्रकार सोचना चाहिए कि यह सभी धर्म परमार्थतः निःस्वभाव होने पर भी संवृत्ति में व्यवस्थित ही हैं । ऐसे न होने पर कर्म तथा फल का सम्बन्ध आदि किस प्रकार व्यवस्थित हो सकेगा । भगवान् (बुद्ध) ने भी—

> "वस्तुओं की उत्पत्ति संवृत्ति में है ।
> परमार्थ में निःस्वभाव हैं ।।"

ऐसा कहा है ।

སེམས་ཅན་བྱིས་པའི་བློ་ཅན་འདི་དག་ནི་ངོ་བོ་ཉིད་མེད་པའི་དངོས་པོ་རྣམས་ལ་ཡོད་པ་ལ་སོགས་པ་སྒྲོ་འདོགས་པས་བློ་ཕྱིན་ཅི་ལོག་ཏུ་གྱུར་ཏེ། ཡུན་རིང་པོར་འཁོར་བའི་འཁོར་ལོ་ན་ཡོངས་སུ་འཁྱམས་པས་བདག་གིས་ཅི་ནས་ཀྱང་བསོད་ནམས་དང་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཚོགས་བླ་ན་མེད་པ་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ནས་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པའི་གོ་འཕང་ཐོབ་པར་བྱས་ལ། དེ་དག་ཆོས་ཉིད་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་བྱའོ་སྙམ་དུ་བསམས་ལ།

बालक के समान बुद्धि वाले ये प्राणी निःस्वभाव वस्तुओं में सत्ता आदि का अध्यारोप करने (=ज़बरजस्त थोपने) से विपरीत बुद्धि वाले होकर लम्बे समय तक संसार के चक्र में अच्छी तरह भटकते रहते हैं । "अतः मैं किसी भी तरह अनुत्तर (=जिस से उत्तम अन्य कोई न हो) पुण्य तथा ज्ञान सम्भारों को परिपूर्ण कर सर्वज्ञ के पद प्राप्त करके उन लोगों को धर्मता का बोध कराऊँगा" ऐसा सोचें ।

དེ་ནས་དལ་བུས་སྐྱིལ་མོ་ཀྲུང་བཤིག་སྟེ་ཕྱོགས་བཅུ་ན་བཞུགས་པའི་སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཐམས་ཅད་ལ་ཕྱག་བྱས་ལ། དེ་དག་ལ་མཆོད་པ་དང་བསྟོད་པ་བྱས་ནས། **འཕགས་པ་བཟང་པོ་སྤྱོད་པ་**ལ་སོགས་པའི་སྨོན་ལམ་རྒྱ་ཆེན་པོ་གདབ་བོ། །དེ་ནས་སྟོང་པ་

ཉིད་དང་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོའི་སྙིང་པོ་ཅན་གྱི་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་བསོད་ནམས་དང་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཚོགས་མཐའ་དག་བསྒྲུབ་པ་ལ་མངོན་པར་བརྩོན་པར་བྱའོ།།

इसके बाद आराम से पर्यङ्क (=समाधि में बैठने की विशेष अवस्था, भोटी—दोर्जे किलटुङ) को खोलकर, दश दिशाओं में रहने वाले सभी बुद्ध और बोधिसत्त्वों को प्रणाम करके, उनकी पूजा एवं स्तुति करके '**आर्यभद्रचर्या**' आदि महाप्रणिधान करना चाहिए । उसके बाद शून्यता और महाकरुणा से गर्भित दान आदि समस्त पुण्य एवं ज्ञान सम्भारों को पूर्ण करने (=अर्जन करने) के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

དེ་ལྟར་གྱུར་ན་བསམ་གཏན་དེ་རྣམ་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མཆོག་དང་ལྡན་པའི་སྟོང་པ་ཉིད་མངོན་པར་བསྒྲུབས་པ་ཡིན་ཏེ། **འཕགས་པ་གཙུག་ན་རིན་པོ་ཆེ་**ལས་ཇི་སྐད་དུ། "དེ་བྱམས་པའི་གོ་ཆ་བགོས་ཤིང་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོའི་གནས་ལ་གནས་ནས་རྣམ་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མཆོག་དང་ལྡན་པའི་སྟོང་པ་ཉིད་མངོན་པར་བསྒྲུབ་པའི་བསམ་གཏན་བྱེད་དོ། །དེ་ལ་རྣམ་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མཆོག་དང་ལྡན་པའི་སྟོང་པ་ཉིད་གང་ཞེ་ན། གང་སྦྱིན་པ་དང་མ་བྲལ་བ། ཚུལ་ཁྲིམས་དང་མ་བྲལ་བ། བཟོད་པ་དང་མ་བྲལ་བ། བརྩོན་འགྲུས་དང་མ་བྲལ་བ། བསམ་གཏན་དང་མ་བྲལ་བ ཤེས་རབ་དང་མ་བྲལ་བ། ཐབས་དང་མ་བྲལ་བ།" ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་རྒྱ་ཆེར་བཀའ་སྩལ་པ་ལྟ་བུའོ།།

ऐसा होने पर वह ध्यान सर्वाकार की श्रेष्ठता से युक्त शून्यता रूप में निष्पन्न होता है । जैसे **आर्यरत्नचूड़** में कहा गया है कि—"वह मैत्री का कवच पहन, महाकरुणा के स्थान पर बैठकर सर्वाकार की श्रेष्ठता से युक्त शून्यता के अभिनिर्हार वाले ध्यान को करता है । उन में सर्वाकार-वरोपेत शून्यता क्या है ? जो दान से रहित नहीं है, जो शील

से रहित नहीं है, जो क्षान्ति से रहित नहीं है, जो वीर्य से रहित नहीं है, जो समाधि से रहित नहीं है, जो प्रज्ञा से रहित नहीं है और जो उपाय से रहित नहीं है'' इत्यादि विस्तार से कही गयी हैं ।

བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ནི་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ཡོངས་སུ་སྨིན་པར་བྱེད་པ་དང་། ཞིང་དང་། ལུས་དང་། གཡོག་འཁོར་མང་པོ་ལ་སོགས་པ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པར་གྱུར་པའི་ཐབས་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པའི་དགེ་བ་ངེས་པར་བསྟེན་པར་བྱ་དགོས་སོ།།

बोधिसत्त्वों को तो सभी प्राणियों को परिपाक करना चाहिए और (बुद्ध) क्षेत्र, काय, सेवक-परिवार आदि सम्पन्न उपाय वाले दान आदि कुशलों का अवश्य सेवन करना चाहिए ।

དེ་ལྟ་མ་ཡིན་ན་སངས་རྒྱས་རྣམས་ཀྱི་ཞིང་ལ་སོགས་པ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་གང་བཀའ་སྩལ་པ་དེ་གང་གི་འབྲས་བུ་ཡིན་པར་འགྱུར། དེ་ལྟ་བས་ན་རྣམ་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མཆོག་དང་ལྡན་པ་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པའི་ཡེ་ཤེས་དེ་ནི་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་ཐབས་ཀྱིས་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་འགྱུར་བས་ **བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་** "ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པའི་ཡེ་ཤེས་དེ་ནི་ཐབས་ཀྱིས་མཐར་ཕྱིན་པ་ཡིན་ནོ།།" ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ། །དེའི་ཕྱིར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔས་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་ཐབས་ལ་ཡང་བསྟེན་པར་བྱའི། སྟོང་པ་ཉིད་འབའ་ཞིག་ནི་མ་ཡིན་ནོ།།

अन्यथा बुद्धों के क्षेत्र आदि की जो सम्पत्ति कही गयी है वह किसका फल होगा ? इसलिए सर्वाकारवरोपेत वह सर्वज्ञता का ज्ञान तो दान आदि उपायों से परिपूर्ण होने के कारण है, **भगवान् (बुद्ध)** ने ऐसा कहा "वह सर्वज्ञज्ञान तो उपाय से पारङ्गत है ।" अतः बोधिसत्त्व को दान आदि उपायों का भी सेवन करना चाहिए, शून्यता मात्र का नहीं :

དེ་སྐད་དུ་**འཕགས་པ་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཤིན་ཏུ་རྒྱས་པ་བསྡུས་པ་**ལས་ཀྱང་བཀའ་སྩལ་ཏེ། "བྱམས་པ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་དྲུག་ཡང་དག་པར་བསྒྲུབས་པ་འདི་ནི་རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་ཕྱིར་ཡིན་ན། དེ་ལ་མི་བླུན་པོ་དེ་དག་འདི་སྐད་དུ། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་ཁོ་ན་ལ་བསླབ་པར་བྱའི། ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་ལྷག་མ་རྣམས་ཀྱིས་ཅི་ཞིག་བྱ་ཞེས་ཟེར་ཞིང་། དེ་དག་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་གཞན་དག་ལ་ཡང་སུན་འབྱིན་པར་སེམས་སོ།། མ་ཕམ་པ་འདི་ཇི་སྙམ་དུ་སེམས། ཀཱ་ཤི་ཀའི་རྒྱལ་པོར་གྱུར་པ་གང་ཡིན་པ་དེས་ཕུག་རོན་གྱི་ཕྱིར་རང་གི་ཤ་ཁྲ་ལ་བྱིན་པ་དེ་ཤེས་རབ་འཆལ་བ་ཡིན་ནམ། བྱམས་པས་གསོལ་པ། བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་ནི་མ་ལགས་སོ། །བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་བཀའ་སྩལ་པ། བྱམས་པ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྤྱད་པ་སྤྱོད་པ་ན་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་དྲུག་དང་ལྡན་པའི་དགེ་བའི་རྩ་བ་གང་དག་བསགས་པའི་དགེ་བའི་རྩ་བ་དེ་དག་གིས་གནོད་པར་གྱུར་ཏམ། བྱམས་པས་གསོལ་པ། བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་ནི་མ་ལགས་སོ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་བཀའ་སྩལ་པ། མ་ཕམ་པ་ཁྱོད་ཀྱིས་ཀྱང་བསྐལ་པ་དྲུག་ཅུར་སྦྱིན་པའི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་ཡང་དག་པ་བསྒྲུབས། བསྐལ་པ་དྲུག་ཅུར་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ། བསྐལ་པ་དྲུག་ཅུར་བཟོད་པའི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ། བསྐལ་པ་དྲུག་ཅུར་བརྩོན་འགྲུས་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ། བསྐལ་པ་དྲུག་ཅུར་བསམ་གཏན་གྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ། བསྐལ་པ་དྲུག་ཅུར་ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་ཡང་དག་པར་བསྒྲུབས་ན། དེ་ལ་མི་བླུན་པོ་དེ་དག་འདི་

སྐད་དུ་ཚུལ་གཅིག་ཁོ་ནས་བྱང་ཆུབ་སྟེ། འདི་ལྟ་སྟེ། སྟོང་པ་ཉིད་ཀྱི་ཚུལ་གྱིས་སོ་ཞེས་ཟེར་ཏེ། དེ་དག་ནི་སྤྱོད་པ་ཡོངས་སུ་མ་དག་པར་འགྱུར་རོ" །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་འབྱུང་ངོ་།།

इसी प्रकार **आर्यसर्वधर्मवैपुल्य** में कहा गया है—"हे मैत्रेय! बोधिसत्त्वों के छः पारमिताओं की साधना तो सम्बोधि के लिये है । उसको मूर्ख इस प्रकार कहेंगे— बोधिसत्त्व को प्रज्ञापारमिता मात्र की ही शिक्षा लेनी चाहिए । शेष पारमिताओं से क्या करना है ? वे लोग अन्य पारमिताओं को भी दूषित करने की बात सोचते हैं । हे अजित ! इसको किस तरह सोच रहे हो ? काशी के (एक) राजा जिसने कबूतर की (रक्षा) के लिए अपना मांस श्येन (=बाज़ अर्थात् कबूतर आदि को खाने वाले पक्षी) को दान दिया, क्या वह बुरी बुद्धि वाला था ? मैत्रेय ने कहा— भगवन ! यह तो नहीं है । भगवान् (बुद्ध) ने कहा— मैत्रेय ! बोधिसत्त्व चर्या का आचरण करते समय (मैंने) छः पारमिताओं से युक्त जिन कुशलमूलों का अर्जन (=सञ्चय) किया, क्या उन कुशलमूलों ने हानि पहुँचाई ? मैत्रेय ने कहा— भगवन ! ऐसा तो नहीं है । भगवान (बुद्ध) ने कहा— हे अजित ! आपने भी साठ कल्पों तक दान पारमिता का ठीक तरह से पालन किया है, साठ कल्पों तक शील पारमिता, साठ कल्पों तक क्षान्ति पारमिता, साठ कल्पों तक वीर्य पारमिता, साठ कल्पों तक समाधि पारमिता और साठ कल्पों तक प्रज्ञापारमिता का भी अर्जन किया है । उस पर मूर्ख पुरुष इस प्रकार कहेंगे कि— एक ही नय (=तरीके) से बोधि हो सकती है, जैसे कि शून्यता नय से । (ऐसा कहने वाले) वे लोग तो चर्या अपरिशुद्ध (=आचरण से ही अशुद्ध) हो जायेंगे ।" इत्यादि ।

ཐབས་དང་བྲལ་ན་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ཤེས་རབ་འབའ་ཞིག་གིས་ནི་ཉན་ཐོས་བཞིན་དུ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་མཛད་པ་བྱེད་མི་ནུས་ཀྱི། ཐབས་ཀྱིས་བསྡངས་ན་ནུས་པར་འགྱུར་ཏེ། **འཕགས་པ་དཀོན་**

མཆོག་བརྩེགས་པ་ལས་ཇི་སྐད་དུ། འོད་སྲུང་འདི་ལྟ་སྟེ་དཔེར་ན་བློན་པོས་ཟིན་པའི་རྒྱལ་པོ་རྣམས་དགོས་པ་ཐམས་ཅད་བྱེད་པ་དེ་བཞིན་དུ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ཤེས་རབ་ཐབས་མཁས་པས་ཡོངས་སུ་ཟིན་པ་དེ་ཡང་སངས་རྒྱས་ཀྱི་མཛད་པ་ཐམས་ཅད་བྱེད་དོ། །ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ།།

उपाय से रहित होने पर बोधिसत्त्व केवल प्रज्ञा ही से श्रावक की भाँति बुद्ध का कार्य नहीं कर सकेंगे । उपाय की सहायता के द्वारा (बोधिसत्त्व बुद्ध के कार्य करने में) समर्थ हो सकेंगे । जैसे कि **आर्यरत्नकूट** में कहा गया है—"हे काश्यप ! जिस प्रकार मन्त्रियों सहित राजा आवश्यक कार्य करता है, उसी प्रकार बोधिसत्त्व के उपायकौशल से परिगृहीत वह प्रज्ञा भी सभी बुद्धकार्य करती हैं ।"

བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ལམ་གྱི་ལྟ་བ་ཡང་གཞན། མུ་སྟེགས་ཅན་དང་། ཉན་ཐོས་རྣམས་ཀྱི་ལམ་གྱི་ལྟ་བ་ཡང་གཞན་ཏེ། འདི་ལྟར་མུ་སྟེགས་ཅན་རྣམས་ཀྱི་ལམ་གྱི་ལྟ་བ་ནི་བདག་ལ་སོགས་པར་ཕྱིན་ཅི་ལོག་དང་ལྡན་པའི་ཕྱིར་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ཐམས་ཅད་དུ་ཤེས་རབ་དང་བྲལ་བའི་ལམ་ཡིན་ཏེ། དེ་བས་ན་དེ་དག་ཐར་པ་མི་ཐོབ་བོ།།

बोधिसत्त्वों के मार्गगत दृष्टि भी अन्य हैं (तथा) तैर्थिक और श्रावकों के मार्गगत दृष्टि भी अलग हैं । इस प्रकार तैर्थिकों की मार्ग दृष्टि तो आत्मा आदि विप्रतिपत्तियों से युक्त होने के कारण पूरी की पूरी प्रज्ञा से रहित मार्ग है । इसलिए उन्हें (=तैर्थिकों=आत्मा मानने वालों को) मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी ।

ཉན་ཐོས་རྣམས་ཀྱིས་ནི་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོ་དང་བྲལ་བས་ཐབས་དང་མི་ལྡན་པ་ཡིན་ཏེ། དེ་བས་ན་དེ་དག་གཅིག་ཏུ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ལ་གཞོལ་བར་འགྱུར་རོ། །བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ལམ་ནི་ཤེས་རབ་དང་ཐབས་དང་ལྡན་པར་འདོད་དེ། དེ་བས་ན་དེ་དག་མི་

གནས་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ལ་གཞོལ་བར་འགྱུར་རོ། །བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ལམ་ནི་ཤེས་རབ་དང་ཐབས་དང་ལྡན་པར་འདོད་དེ། དེས་ན་མི་གནས་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་སྟེ། ཤེས་རབ་ཀྱི་སྟོབས་ཀྱིས་ནི་འཁོར་བར་མི་ལྟུང་ལ། ཐབས་ཀྱི་སྟོབས་ཀྱིས་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པར་མི་ལྟུང་བའི་ཕྱིར་རོ།།

श्रावक (की भूमि) तो महाकरुणा से रहित होने के कारण उपाय से युक्त नहीं है, इसलिए वे लोग (अपने) अकेले के ही निर्वाण में लग जायेंगे । बोधिसत्त्वों के मार्ग तो प्रज्ञा और उपाय से युक्त होते हैं । अत: वे (बोधिसत्त्व) लोग अप्रतिष्ठित निर्वाण में परायण होने लग जाते हैं । बोधिसत्त्वों को प्रज्ञा तथा उपाय से युक्त मार्ग–अभीष्ट है, अत: वे (बोधिसत्त्व) अप्रतिष्ठित निर्वाण को प्राप्त करते हैं, क्योंकि प्रज्ञा के बल पर (वे) संसार में नहीं गिरते और उपाय के बल से (वे श्रावक के) निर्वाण में भी नहीं गिरता है ।

དེ་བས་ན་**འཕགས་པ་ག་ཡཱ་མགོའི་རི་**ལས། "བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ལམ་ནི་མདོར་བསྡུ་ན་འདི་གཉིས་ཏེ། གཉིས་གང་ཞེ་ན། འདི་ལྟ་སྟེ། ཐབས་དང་ཤེས་རབ་བོ།" །ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།། **འཕགས་པ་དཔལ་མཆོག་དང་པོ་**ལས་ཀྱང་། ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་ནི་**མ**་ཡིན་ནོ། །ཐབས་ལ་མཁས་པ་ནི་**ཕ**་ཡིན་ནོ། །ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

अत: **आर्यगयाशीर्ष** में कहा गया है—"बोधिसत्त्वों के मार्ग संक्षेप में ये दो हैं । कौन से दो ? उपाय और प्रज्ञा !" **आर्यश्रीपरमाद्य** (**नामक महायान कल्पराज**) में भी कहा है—"प्रज्ञापारमिता माता हैं और उपाय–कौशल तो पिता हैं ।"

འཕགས་པ་དྲི་མ་མེད་པར་གྲགས་པས་བསྟན་པ་ལས་ཀྱང་། "བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་འཆིང་བ་ནི་གང་། ཐར་པ་ནི་གང་

ཞེ་ན། ཐབས་མེད་པར་སྲིད་པར་འགྲོ་བ་ཡོངས་སུ་འཛིན་པ་ནི་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་འཆིང་བའོ།། ཐབས་ཀྱིས་སྲིད་པའི་འགྲོ་བར་འགྲོ་བ་ནི་ཐར་པའོ།ཤེས་རབ་མེད་པར་སྲིད་པར་འགྲོ་བ་ཡོངས་སུ་འཛིན་པ་ནི་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་འཆིང་བའོ། །ཤེས་རབ་ཀྱིས་སྲིད་པའི་འགྲོ་བར་འགྲོ་བ་ནི་ཐར་པའོ། །ཐབས་ཀྱིས་མ་ཟིན་པའི་ཤེས་རབ་ནི་འཆིང་བའོ། །ཐབས་ཀྱིས་ཟིན་པའི་ཤེས་རབ་ནི་ཐར་པའོ། །ཤེས་རབ་ཀྱིས་མ་ཟིན་པའི་ཐབས་ནི་འཆིང་བའོ། །ཤེས་རབ་ཀྱིས་ཟིན་པའི་ཐབས་ནི་ཐར་པའོ།" །ཞེས་རྒྱ་ཆེར་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

आर्यविमलकीर्तिनिर्देश (नामक महायान सूत्र) में भी कहा गया है—"बोधिसत्त्वों के बन्धन क्या है ? मोक्ष क्या है ? ऐसा कहने पर— बिना उपाय से संसार की गति का परिग्रहण करना बोधिसत्त्वों का बन्धन है । उपाय (कुशलता) से संसार की गति में चलना मुक्ति है । प्रज्ञा के बिना संसार (=भव) की गति का परिग्रहण करना बोधिसत्त्वों का बन्धन है । प्रज्ञा से भव (=संसार) की गति में जाना मुक्ति है । उपाय से परिग्रहण न किया गया प्रज्ञा भी बन्धन है । उपाय से गृहीत प्रज्ञा मुक्ति है प्रज्ञा से परिग्रहण न किया गया उपाय भी बन्धन है । प्रज्ञा से परिगृहीत उपाय मुक्ति है ।" इत्यादि विस्तार से कहा गया है ।

བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔས་ཤེས་རབ་ཙམ་བསྟེན་ན་ནི་ཉན་ཐོས་ཀྱིས་འདོད་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པར་ལྷུང་བས་འཆིང་བ་བཞིན་དུ་འགྱུར་ཏེ། མི་གནས་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པས་གྲོལ་བར་མི་འགྱུར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་ཐབས་དང་བྲལ་བའི་ཤེས་རབ་ནི་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་འཆིང་བའོ། །ཞེས་བྱའོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་ལྷགས་པས་ཉེན་པ་ལ་མེ་བསྟེན་པ་བཞིན་དུ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔས་ཕྱིན་ཅི་

ལོག་གི་ལྷགས་པ་ཙམ་སྤང་བའི་ཕྱིར་ཐབས་དང་བཅས་པའི་ཤེས་རབ་ཀྱིས་
སྟོང་པ་ཉིད་བསྟེན་པར་བྱའི། ཉན་ཐོས་བཞིན་དུ་མངོན་དུ་ནི་མི་བྱ་སྟེ།

बोधिसत्त्व द्वारा प्रज्ञा-मात्र का सेवन करने के कारण श्रावकों के इष्ट निर्वाण में गिर जाने से (वह निर्वाण) बन्धन के समान ही हो जाता है । अप्रतिष्ठित निर्वाण से मुक्ति नहीं होगी । इसलिए उपाय से रहित प्रज्ञा बोधिसत्त्वों का बन्धन है । ऐसा कहा जाता है । अतः वायु से पीड़ित लोगों को अग्नि-सेवन की तरह बोधिसत्त्व विपर्यास (=मिथ्या दृष्टि) रूपी वायु-मात्र का प्रहाण करने (=त्यागने) के लिए उपाय सहित प्रज्ञा द्वारा शून्यता का सेवन करें । श्रावक की तरह साक्षात्कार न करें ।

འཕགས་པ་ཆོས་བཅུ་པའི་མདོ་ལས་ཇི་སྐད་དུ། "རིགས་ཀྱི་བུ་འདི་ལྟ་སྟེ། དཔེར་ན་མི་ལ་ལ་ཞིག་མེ་ཡོངས་སུ་སྤྱོད་པར་གྱུར་ཏེ། དེ་མེ་དེ་ལ་བསྙེ་སྟང་བྱེད། བླ་མར་བྱེད་ཀྱང་དེ་འདི་སྙམ་དུ་བདག་གིས་མེ་དེ་ལ་བསྙེ་སྟང་བྱས། བླ་མར་བྱས། རི་མོར་བྱས་ཀྱང་འདི་ལ་ལག་པ་གཉིས་ཀྱིས་ཡོངས་སུ་གཟུང་བར་བྱའོ་སྙམ་དུ་མི་སེམས་སོ།། དེ་ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། གཞི་དེ་ལས་བདག་ལ་ལུས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་བའམ། སེམས་ཀྱི་ཡིད་མི་བདེ་བར་འགྱུར་དུ་འོང་སྙམ་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་བཞིན་དུ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཡང་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་བསམ་པ་ཅན་ཡང་ཡིན་ལ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་མངོན་སུམ་དུ་ཡང་མི་བྱེད་དོ།། དེ་ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། གཞི་དེ་ལས་བདག་བྱང་ཆུབ་ལས་ཕྱིར་ལྡོག་པར་འགྱུར་དུ་འོང་སྙམ་པའི་ཕྱིར་རོ།" །ཞེས་བཀའ་སྩལ་པ་ལྟ་བུའོ།།

आर्य दशधर्मसूत्र में ऐसा कहा गया है—"कुलपुत्र ! जैसे कोई व्यक्ति अग्नि की अर्चना (=सेवा या पूजा) करता है । उस अग्नि का वह सत्कार करता है (और) गुरूकार करने पर भी क्या वह ऐसा सोचता है कि 'मैं उस अग्नि का सत्कार करता हूँ (=पूजा-अर्चना करता हूँ) ।

गुरूकार करता हूँ । बहुत मान करने पर भी इस (अग्नि) को दोनों हाथों से परिग्रहण करूँगा', ऐसा नहीं सोचता है । क्योंकि—'उस वस्तु (=अग्नि) से मुझे शारीरिक दुःख या चित्त में मानसिक अशान्ति हो सकती है', ऐसा सोचेगा । उसी प्रकार बोधिसत्त्व भी निर्वाण के विचार वाला होने पर भी निर्वाण का प्रत्यक्ष नहीं करता है । क्योंकि —'उसके आश्रय से मैं बोधि से निवर्तन (=लौटाने वाला अथवा पीछे मुड़ने वाला) हो जाऊँगा', ऐसा सोचता है ।''

ཐབས་ཙམ་འབའ་ཞིག་བསྟེན་ན་ཡང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་སོ་སོའི་སྐྱེ་བོའི་ས་ལས་མ་འདའ་བས་ཤིན་ཏུ་བཅིངས་པ་ཁོ་ནར་འགྱུར་རོ།། དེ་ལྟ་བས་ན་ཤེས་རབ་དང་བཅས་པའི་ཐབས་བསྟེན་པར་བྱ་སྟེ། འདི་ལྟར་སྔགས་ཀྱིས་ཡོངས་སུ་ཟིན་པའི་དུག་བཞིན་དུ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཉོན་མོངས་པ་ཡང་ཤེས་རབ་ཀྱིས་ཡོངས་སུ་ཟིན་པའི་སྟོབས་ཀྱིས་བསྒོམས་ན་བདུད་རྩིར་འགྱུར་ན། རང་བཞིན་གྱིས་མངོན་པར་མཐོ་བའི་འབྲས་བུ་ཅན་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་གང་ཡིན་པ་ལྟ་སྨོས་ཀྱང་ཅི་དགོས་ཏེ། **འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་བརྩེགས་པ་**ལས་ཇི་སྐད་དུ། "འོད་སྲུངས་འདི་ལྟ་སྟེ། དཔེར་ན་སྔགས་དང་སྨན་གྱིས་ཡོངས་སུ་ཟིན་པའི་དུག་གིས་ནི་འཆི་བར་བྱེད་མི་ནུས་སོ། །དེ་བཞིན་དུ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཉོན་མོངས་པ་ཤེས་རབ་ཀྱིས་ཡོངས་སུ་ཟིན་པས་ཀྱང་ལོག་པར་ལྟུང་བར་བྱེད་མི་ནུས་སོ།" །ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

केवल उपाय मात्र का सेवन करने पर भी बोधिसत्त्व पृथग्जन (=साधारण व्यक्ति) की भूमि से अतीत न होने के कारण अत्यन्त बँधा रह जायगा । इसीलिए प्रज्ञा सहित उपाय का सेवन करना चाहिए । जैसे मन्त्र से परिगृहीत विष की तरह बोधिसत्त्व के क्लेश भी प्रज्ञा द्वारा परिगृहीत होकर भावना करने पर उसके बल पर अमृत हो जाते हैं', तो

स्वभाव से अभ्युदय (=स्वर्ग) के फलवाले दान आदि (पारमिताओं) का तो कहना ही क्या ? **आर्यरत्नकूट** नामक सूत्र में कहा गया है—"काश्यप ! जैसे कि, मन्त्र और औषधि से परिगृहीत विष से मृत्यु नहीं हो सकती है, उसी प्रकार प्रज्ञा से परिगृहीत बोधिसत्त्वों का क्लेश भी विपरीत (मार्ग पर) पतित नहीं कर सकता है ।

དེ་ལྟ་བས་ན་གང་གི་ཕྱིར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཐབས་ཀྱི་སྟོབས་ཀྱིས་འཁོར་བ་མི་འདོར་བ་དེའི་ཕྱིར་མྱ་ངན་ལས་འདས་པར་མི་ལྟུང་ངོ༎ གང་གི་ཕྱིར་ཤེས་རབ་ཀྱི་སྟོབས་ཀྱིས་དམིགས་པ་མཐའ་དག་སྤོང་བ་དེའི་ཕྱིར་འཁོར་བར་མི་ལྟུང་སྟེ། དེ་བས་ན་མི་གནས་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་སངས་རྒྱས་ཉིད་འཐོབ་བོ། །དེ་བས་ན་**འཕགས་པ་ནམ་མཁའ་མཛོད་**ལས་ཀྱང་། "དེ་ཤེས་རབ་ཀྱི་ཤེས་པས་ནི་ཉོན་མོངས་པ་ཐམས་ཅད་ཡོངས་སུ་འདོར་རོ། །ཐབས་ཀྱི་ཤེས་པས་ནི་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ཡོངས་སུ་མི་གཏོང་ངོ་།" ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ༎

इसलिए जिस से बोधिसत्त्व उपाय के बल से संसार का परित्याग (=पूर्ण छोड़ा) नहीं करता है, उसी से (एकान्त) निर्वाण में भी पतित नहीं होता है । जिस प्रज्ञा के बल से समग्र अलम्बनों का प्रहाण करता है उसी से संसार में नहीं गिरता । इसीलिए उसे अप्रतिष्ठित निर्वाण-बुद्धत्त्व की प्राप्ति होती है । अतः **आर्य गगनगञ्ज (नामक सूत्र)** में भी कहा गया है— "उस प्रज्ञा (रूपी) ज्ञान से सभी क्लेशों का परित्याग होता है, तो उपाय के ज्ञान से सभी प्राणियों का परित्याग नहीं होता है।"

འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་པ་ལས་ཀྱང་།

"'སེམས་ཅན་གྱི་དོན་ལ་ཤིན་ཏུ་མི་ཕྱོགས་པ་དང་། འདུ་བྱེད་མངོན་པར་འདུ་བྱ་བ་ཐམས་ཅད་ལ་ཤིན་ཏུ་མི་ཕྱོགས་པ་ནི་བླ་ན་མེད་པ་ཡང་

དག་པར་རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་ཏུ་ངས་མ་བསྟན་ཏོ།" །ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།། དེ་ལྟ་བས་ན་སངས་རྒྱས་ཉིད་ཐོབ་པར་འདོད་པས་ཤེས་རབ་དང་ཐབས་གཉིས་ཀ་བསྟེན་པར་བྱའོ།།

आर्य सन्धिनिर्मोचन (नामक महायान सूत्र) में भी कहा गया है—"सत्वार्थ (=प्राणी हित) के लिये आत्यन्तिक रूप से उन्मुख नहीं होने वाले और संस्कारों के अभिसंस्कार से अत्यन्त विमुख होने वालों के लिये मैंने (=बुद्ध ने) अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि की देशना नहीं दी हैं ।" इसलिए बुद्धत्व प्राप्त करने के इच्छुक को उपाय और प्रज्ञा दोनों का सेवन करना चाहिए ।

དེ་ལ་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པའི་ཤེས་རབ་བསྒོམ་པའི་གནས་སྐབས་སམ། ཤིན་ཏུ་མཉམ་པར་གཞག་པའི་གནས་སྐབས་ན་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་ཐབས་ལ་བསྟེན་པ་མི་འབྱུང་དུ་ཟིན་ཀྱང་། དེ་ལ་སྦྱོར་བ་དང་དེའི་རྗེས་ལས་བྱུང་བའི་ཤེས་རབ་གང་ཡང་བྱུང་བ་དེའི་ཚེ་ཐབས་ལ་བསྟེན་པ་འབྱུང་བ་ཉིད་དེ། དེའི་ཕྱིར་ཤེས་རབ་དང་ཐབས་གཉིས་ཅིག་ཅར་འཇུག་གོ །གཞན་ཡང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཤེས་རབ་དང་ཐབས་ཟུང་དུ་འབྲེལ་བར་འཇུག་པའི་ལམ་ནི་འདི་ཡིན་ཏེ། སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་ལྟ་བའི་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོས་ཡོངས་སུ་ཟིན་པས་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པའི་ལམ་བསྟེན་པ་དང་། ལངས་པའི་ཐབས་ཀྱི་དུས་ན་ཡང་སྒྱུ་མ་མཁན་བཞིན་དུ་ཕྱིན་ཅི་མ་ལོག་པ་ཁོ་ནའི་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་ལ་བསྟེན་པ་སྟེ། **འཕགས་པ་བློ་གྲོས་མི་ཟད་པས་བསྟན་པ**་ལས་ཇི་སྐད་དུ། "དེ་ལ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ཐབས་ནི་གང་། ཤེས་རབ་མངོན་པར་སྒྲུབ་པ་ནི་གང་ཞེ་ན། གང་གི་ཕྱིར་མཉམ་པར་

བཞག་པ་ན་སེམས་ཅན་ལ་ལྟ་བས་ན་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོའི་དམིགས་པ་ལ་སེམས་ཉེ་བར་འཇོག་པ་དེ་ནི་དེའི་**ཐབས**་སོ། །གང་གི་ཕྱིར་ཞི་བ་དང་རབ་ཏུ་ཞི་བར་སྙོམས་པར་འཇུག་པ་དེ་ནི་དེའི་**ཤེས་རབ**་བོ།" །ཞེས་རྒྱ་ཆེར་བཀའ་སྩལ་པ་ལྟ་བུའོ།།

यहाँ लोकोत्तर प्रज्ञा की भावना करते समय या अत्यन्त समाहित होने के अवस्था में दान आदि का सेवन सम्भव न होने पर भी, उसके प्रयोग तथा पृष्ठलब्ध अवस्था में (=उसके पीछे उत्पन्न) जो भी प्रज्ञा होती है उस समय वह उपाय के सेवन से होता है । इसलिए प्रज्ञा और उपाय दोनों युगनद्ध (=एक साथ) प्रवृत्त होते हैं । अपि च बोधिसत्त्वों का प्रज्ञा और उपाय के युगल मार्ग इस प्रकार है— सभी प्राणियों को देखने वाली महाकरुणा से परिगृहीत लोकोत्तर मार्ग का सेवन और उत्थित उपाय के समय में भी मायाकार की तरह अविपरीत दान आदि का सेवन करते हैं, जैसे **आर्यअक्षयमतिनिर्देश** (सूत्र) में कहा है—"बोधिसत्त्वों का उपाय क्या है ? प्रज्ञा अभिनिर्हार क्या है ? कहा जाये तो जिसमें समाहित होकर प्राणियों को देखने से महाकरुणा के आलम्बन पर चित्त की उपस्थापना होती है, वही **उपाय** है । जिससे शान्ति और प्रशान्ति में समाहित होता है वही उसकी (=साधक की) **प्रज्ञा** है ।" इस प्रकार विस्तार से कहा गया है ।

བདུད་བཏུལ་བའི་ལེའུ་ལས་ཀྱང་བཀའ་སྩལ་ཏེ། "གཞན་ཡང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་སྦྱོར་བ་ཡང་དག་ཞུགས་ནི་ཤེས་རབ་ཀྱི་ཤེས་པས་མངོན་པར་བརྩོན་པར་ཡང་བྱེད་ལ། ཐབས་ཀྱི་ཤེས་པས་དགེ་བའི་ཆོས་ཐམས་ཅད་སྡུད་པར་ཡང་སྦྱོར་བ་དང་། ཤེས་རབ་ཀྱི་ཤེས་པས་བདག་མེད་པ་དང་། སེམས་ཅན་མེད་པ་དང་། སྲོག་མེད་པ་དང་། གསོ་བ་མེད་པ་དང་། གང་ཟག་མེད་པར་ཡང་སྦྱོར་བ་ལ། ཐབས་ཀྱི་ཤེས་པས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ཡོངས་སུ་སྨིན་པར་བྱེད་པ་ཡང་སྦྱོར་བ་གང་ཡིན་པའོ།" །ཞེས་རྒྱ་ཆེར་འབྱུང་ངོ་།།

मारदमनपरिच्छेद में भी—"और भी बोधिसत्त्वों के समुत्कर्ष प्रयोग तो प्रज्ञा रूपी ज्ञान द्वारा प्रयत्न भी करता है, उपाय ज्ञान से सभी कुशल धर्मों के संग्रह में भी योग करता है । प्रज्ञा रूपी ज्ञान से नैरात्म्य, असत्त्व, अजीव, अपोष और अपुद्गल का भी योग करता है । उपाय के ज्ञान से सभी प्राणियों को परिपाक करने का योग जो हैं (करते हैं) ।" इस प्रकार विस्तार से कहा गया है ।

འཕགས་པ་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཡང་དག་པར་བསྡུད་པའི་མདོ་ལས་ཀྱང་།།

དཔེར་ན་སྒྱུ་མའི་མཁན་པོ་ཞིག།
སྤྲུལ་པ་ཐར་བར་བྱ་ཕྱིར་བརྩོན།།
དེས་ནི་སྔ་ནས་དེ་ཤེས་པས།།
སྤྲུལ་པ་དེ་ལ་ཆགས་པ་མེད།།
སྲིད་གསུམ་སྤྲུལ་པ་འདྲ་བར་ནི།།
རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་མཁས་པས་ཤེས།།
འགྲོ་བའི་ཆེད་དུ་གོ་བགོས་ཏེ།།
འགྲོ་བ་དེ་ལྟར་སྔར་ནས་ཤེས།། ཞེས་འབྱུང་ངོ་།།

བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཤེས་རབ་དང་། ཐབས་ཀྱི་ཚུལ་ཁོ་ན་སྒྲུབ་པའི་དབང་དུ་མཛད་ནས། དེའི་སྦྱོར་བ་འཁོར་བ་ན་གནས་པ་ཡང་ཡིན་པ་ལ། བསམ་པ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ལ་གནས་པ་ཡང་ཡིན་ནོ། །ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

आर्यधर्मसंगीतिसूत्र में भी कहा गया है:—

"जैसे कोई मायाकार (=जादू दिखाने वाला),

निर्मित (व्यक्ति) को मुक्त करने के लिए प्रयास करता है।
उसको पहले से ही वह ज्ञात होने से,
उस निर्मित (व्यक्ति) पर आसक्त नहीं होता है।।
तीनों भवों (=लोक) को निर्मितक के समान,
सम्बोधि विज्ञ लोग जान कर।
(वे) जगत् के लिए कवच पहनते हैं, क्योंकि,
उस तरह के जगत् का (उन्हें) पहले से ही ज्ञान होता है।।"

बोधिसत्त्व मात्र प्रज्ञा तथा उपाय की विधिवत साधना के अधीन होने से उसका प्रयोग संसार में भी स्थित है, और विचार निर्वाण में भी स्थित है ऐसा कहा गया है ।

དེ་ལྟར་སྟོང་པ་ཉིད་དང་སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོའི་སྙིང་པོ་ཅན་བླ་ན་མེད་པ་ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་ཏུ་ཡོངས་སུ་བསྔོས་པའི་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པའི་ཐབས་གོམས་པར་བྱས་ལ། དོན་དམ་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་བསྐྱེད་པའི་ཕྱིར་སྔ་མ་བཞིན་དུ་རྟག་པར་དུས་དུས་སུ་ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་གི་སྦྱོར་བ་ལ་ཅི་ནུས་སུ་བསྒོམ་པར་བྱ་སྟེ། **འཕགས་པ་སྤྱོད་ཡུལ་ཡོངས་སུ་དག་པའི་མདོ་**ལས། གནས་སྐབས་ཐམས་ཅད་དུ་སེམས་ཅན་གྱི་དོན་བྱེད་པའི་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཕན་ཡོན་ཇི་སྐད་དུ་བསྟན་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཉེ་བར་གནས་པའི་དྲན་པས་དུས་ཐམས་ཅད་དུ་ཐབས་ལ་མཁས་པ་གོམས་པར་བྱའོ།།

उस तरह शून्यता एवं महाकरुणा से गर्भित अनुत्तर-सम्यग्-सम्बोधि में परिणामना किया गया दान आदि उपाय का अभ्यास करके परमार्थ बोधिचित्त के उत्पाद के लिये पहले पूर्वोक्त विधि से सदा समय-समय पर शमथ और विपश्यना के प्रयोग को यथा शक्ति अभ्यास करनी चाहिए । **आर्यगोचरपरिशुद्धिसूत्र** में, सभी अवस्थाओं में प्रणियों के अर्थ को करने वाले बोधिसत्त्वों की अनुशंसा (=गुणों) का जैसा निर्देश किया

गया है उसी प्रकार उपस्थित स्मृति के द्वारा सब समय उपाय कौशल्य का अभ्यास करना चाहिए ।

དེ་ལྟར་**སྙིང་རྗེ**་དང་། **ཐབས**་དང་། **བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས**་གོམས་པར་བྱས་པ་དེ་ཚེ་འདི་ལ་གདོན་མི་ཟ་བར་ཁྱད་པར་དུ་འགྱུར་ཏེ། དེས་ནི་རྨི་ལམ་ན་རྟག་ཏུ་སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་མཐོང་བར་འགྱུར། རྨི་ལམ་བཟང་པོ་གཞན་དག་ཀྱང་རྨི་བར་འགྱུར། ལྷ་རྣམས་ཀྱང་ཡི་རངས་ནས་སྲུང་བ་བྱེད་པར་འགྱུར། སྐད་ཅིག་རེ་རེ་ལ་ཡང་བསོད་ནམས་དང་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཚོགས་རྒྱ་ཆེན་པོ་སོགས་པར་འགྱུར། ཉོན་མོངས་པའི་སྒྲིབ་པ་དང་། གནས་ངན་ལེན་ཀྱང་སྦྱང་བར་འགྱུར། དུས་ཐམས་ཅད་དུ་ཡང་བདེ་བ་དང་ཡིད་བདེ་བ་མང་བར་འགྱུར། སྐྱེ་བོ་མང་པོ་ལ་སྡུག་པར་འགྱུར། ལུས་ལ་ཡང་ནད་ཀྱིས་མི་ཐེབས་པར་འགྱུར། སེམས་ལས་སུ་རུང་བ་ཉིད་ཀྱི་མཆོག་ཀྱང་ཐོབ་པར་འགྱུར་ཏེ། དེས་ན་མངོན་པར་ཤེས་པ་ལ་སོགས་པ་ཡོན་ཏན་ཁྱད་པར་ཅན་ཐོབ་བོ།།

इस प्रकार **करुणा, उपाय** और **बोधिचित्त** के अभ्यास करने वाला, इसी जन्म में निःसन्देह विशिष्ट होता है । वे स्वप्न में सदा बुद्ध और बोधिसत्त्वों को देखेंगे । अन्य अच्छे स्वप्न भी देखेंगे । देवता भी अनुमोदन करके रक्षा करेंगे, एक-एक क्षण में भी पुण्य और ज्ञान सम्भारों (=समूहों) का विपुल (=विशाल) संचय (=इकट्ठा) करेंगे । (उसके) क्लेश आवरण (मल) और दोष्ठुल्य का भी क्षय (=नाश) हो जायेगा । हर समय सुख और सौमनस्य (=प्रसन्न मन) अधिक होता जायेगा। बहुत से लोगों का प्रिय हो जायगा । शरीर भी रोग ग्रस्त नहीं होगा । चित्त की परमकर्मण्यता (=विनीत) की भी प्राप्ति होगी । तद् पश्चात् अभिज्ञता (=परोक्षज्ञान) आदि विशिष्ट गुणों की प्राप्ति हो जाएगी।

དེ་ནས་རྫུ་འཕྲུལ་གྱི་སྟོབས་ཀྱིས་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཁམས་མཐའ་ཡས་པ་དག་ཏུ་སོང་ནས་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་རྣམས་ལ་མཆོད་པ་བྱེད་དོ། །དེ་དག་ལ་ཆོས་ཀྱང་ཉན་ཏོ། །འཆི་བའི་དུས་ཀྱི་ཚེ་ན་ཡང་གདོན་མི་ཟ་བར་སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་མཐོང་བར་འགྱུར་རོ། །ཚེ་རབས་གཞན་ན་ཡང་སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་དང་མི་འབྲལ་བའི་ཡུལ་དང་། ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པའི་ཁྱིམ་དུ་ཡང་སྐྱེ་བར་འགྱུར་ཏེ། དེས་ན་འབད་མི་དགོས་པར་བསོད་ནམས་དང་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཚོགས་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱེད་དོ།། ལོངས་སྤྱོད་ཆེ་བ་དང་། གཡོག་འཁོར་མང་བར་འགྱུར་རོ།། ཤེས་རབ་རྣོ་བས་སྐྱེ་བོ་མང་པོ་ཡོངས་སུ་སྨིན་པར་ཡང་བྱེད་པར་འགྱུར་རོ།། ཚེ་རབས་ཐམས་ཅད་དུ་ཚེ་རབས་དྲན་པར་འགྱུར་ཏེ། དེ་ལྟར་ཕན་ཡོན་ཚད་མེད་པ་མདོ་གཞན་དག་ལས་འབྱུང་བ་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་བྱའོ།།

इसके बाद (साधक) ऋद्धि के बल से अनन्त लोक धातुओं में जाकर भगवान् बुद्धों की पूजा करता है । उनसे धर्म भी सुनता है । मृत्यु के समय में भी निःसन्देह बुद्ध और बोधिसत्त्वों का दर्शन होता है । जन्मान्तरों में भी बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों से रहित न होने वाले क्षेत्रों और विशिष्ट गृहों में पैदा होगा । इसीलिए बिना प्रयत्न के वे पुण्य और ज्ञान सम्भारों को परिपूर्ण करेगा । महाभोग (=उपभोग की वस्तु) और परिजनों का बाहुल्य हो जायेगा । तीक्ष्ण प्रज्ञा के कारण बहुजनों को परिपाक भी करेगा । सभी जन्मों में जन्म-जन्मपरम्परा का स्मरण करेगा। इस प्रकार अपरिमित (=सीमा रहित) अनुशंसा, जो अन्य सूत्रों में मिलते हैं तदनुसार जान लेना चाहिए ।

དེས་དེ་ལྟར་**སྙིང་རྗེ་**དང་། **ཐབས་**དང་། **བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་**རྟག་ཏུ་གུས་པར་ཡུན་རིང་དུ་བསྒོམས་ན་རིམ་གྱིས་

སེམས་ཀྱི་རྒྱུད་ཤིན་ཏུ་ཡོངས་སུ་དག་པའི་སྐད་ཅིག་འབྱུང་བས་ཡོངས་སུ་སྨིན་པར་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་གཙུབ་ཤིང་གཙུབས་པའི་མེ་བཞིན་དུ་ཡང་དག་པའི་དོན་ལ་བསྒོམ་པ་རབ་ཀྱི་མཐར་ཕྱིན་པར་གྱུར་ནས་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པའི་ཡེ་ཤེས་རྟོག་པའི་དྲ་བ་མཐའ་དག་དང་བྲལ་བ། ཆོས་ཀྱི་དབྱིངས་སྤྲོས་པ་མེད་པ་ཤིན་ཏུ་གསལ་བར་རྟོགས་པ་དྲི་མ་མེད་ཅིང་མི་གཡོ་ལ་མར་མེ་རླུང་མེད་པར་བཞག་པ་བཞིན་དུ་མི་གཡོ་བ་ཚད་མར་གྱུར་པ། ཆོས་ཐམས་ཅད་བདག་མེད་པའི་ངོ་བོ་དེ་ཁོ་ན་མངོན་དུ་བྱེད་པ་མཐོང་བའི་ལམ་གྱིས་བསྡུས་པ་དོན་དམ་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་འབྱུང་ངོ་།།

इसके द्वारा इस प्रकार **करुणा, उपाय** और **बोधिचित्त** सदा आदर पूर्वक लम्बे समय तक भावना करें, क्रमशः चित्त सन्तान में अति परिशुद्ध क्षणों के उत्पाद होने से परिपाक हो जाने के कारण अरणिमन्थन (=आग उत्पन्न करने वाली लकड़ी के घर्षण से उत्पन्न) आग की तरह सम्यग् अर्थ की भावना का प्रकर्ष पर्यन्त (=उत्कृष्ट) प्राप्त लोकोत्तर ज्ञान विकल्प के अनन्त जालों से रहित, प्रपञ्च रहित, धर्मधातु का अत्यन्त स्पष्ट अवबोध (=ज्ञान) होगा । निर्मल होकर निश्चल, वायुरहित (जगह) में रखे गये दीपक की भान्ति निश्चल (=बिना हिले-डुले) प्रमाणभूत सर्व धर्म-नैरात्म्य-स्वभाव वाले तत्त्व का साक्षात्कार दर्शनमार्ग के द्वारा संगृहीत परमार्थ बोधिचित्त का स्वरूप उत्पन्न होता है ।

དེ་བྱུང་ནས་དངོས་པོའི་མཐའ་ལ་དམིགས་པ་ལ་ཞུགས་པ་ཡིན་ཏེ། དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་རིགས་སུ་སྐྱེས་པ་ཡིན། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་སྐྱོན་མེད་པ་ལ་ཞུགས་པ་ཡིན། འཇིག་རྟེན་གྱི་འགྲོ་བ་ཐམས་ཅད་ལས་ལོག་པ་ཡིན། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ཆོས་ཉིད་དང་

ཆོས་ཀྱི་དབྱིངས་རྟོགས་པ་ལ་གནས་པ་ཡིན། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ས་དང་པོ་ཐོབ་པ་ཡིན་ནོ་ཞེས་ཕན་ཡོན་དེ་རྒྱས་པར་**ས་བཅུ་པ**་ལ་སོགས་པ་ལས་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་བྱའོ། །འདི་ནི་དེ་བཞིན་ཉིད་ལ་དམིགས་པའི་བསམ་གཏན་ཏེ། **འཕགས་པ་ལང་ཀར་གཤེགས་པ**་ལས་བསྟན་ཏེ། འདི་ནི་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་སྤྲོས་པ་མེད་པ་རྣམ་པར་མི་རྟོག་པ་ཉིད་ལ་འཇུག་པའོ།།

उस (परमार्थ बोधिचित्त) के उत्पन्न होने से (बोधिसत्त्व) वस्तुओं के अन्तिम आलम्बन में प्रवृत्ति होता है । तथागत के गोत्र में उत्पन्न होता है । बोधि सत्त्व की दोष रहितता में प्रवेश होता है । जगत् की सभी गतियों से निवृत्त हो जाता है, बोधिसत्त्व की धर्मता और धर्मधातु के अवबोध (=ज्ञान) में स्थित होता है । इस प्रकार गुणों को विस्तार से "**दशभूमिक (सूत्र)**" आदि से जानना चाहिए । यह तथता के आलम्बन वाला ध्यान है क्योंकि "**आर्यलङ्कावतार सूत्र**" में निर्दिष्ट (=कहा गया) है । (और) यह तो बोधिसत्त्वों की प्रपञ्च रहित निर्विकल्पता में प्रवेश है ।

མོས་པས་སྤྱོད་པའི་ས་ལ་ནི་མོས་པའི་དབང་གིས་འཇུག་པར་རྣམ་པར་བཞག་གི །མངོན་པར་འདུ་བྱེད་པས་ནི་མ་ཡིན་ནོ། །ཡེ་ཤེས་དེ་བྱུང་བར་གྱུར་ན་ནི་མངོན་དུ་ཞུགས་པ་ཡིན་ཏེ། དེ་ལྟར་ས་དང་པོར་ཞུགས་པ་དེ་ཕྱིས་བསྒོམ་པའི་ལམ་ལ་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པ་དང་། དེའི་རྗེས་ལ་ཐོབ་པའི་ཡེ་ཤེས་གཉིས་ཀྱིས་ཤེས་རབ་དང་། ཐབས་བསྒོམས་པས་རིམ་གྱིས་བསྒོམ་པས་སྤང་བར་བྱ་བའི་སྒྲིབ་པ་བསགས་པ་ཕྲ་བ་བས་ཀྱང་ཆེས་ཕྲ་བ་བྱང་བའི་ཕྱིར་དང་། ཡོན་ཏན་ཁྱད་པར་ཅན་གོང་མ་གོང་མ་ཐོབ་པའི་ཕྱིར་ས་འོག་མ་རྣམས་ཡོངས་སུ་སྦྱོང་བས་དེ་

བཞིན་གཤེགས་པའི་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་བར་ལ་ཞུགས་ནས་ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་ཀྱི་རྒྱ་མཚོར་འཇུག་ཅིང་དགོས་པ་ཡོངས་སུ་འགྲུབ་པའི་དམིགས་པ་ཡང་འཐོབ་སྟེ། འདི་ལྟར་རིམ་པ་ཁོ་ནར་སེམས་ཀྱི་རྒྱུད་ཡོངས་སུ་དག་པར་**འཕགས་པ་ལང་ཀར་གཤེགས་པ་**ལས་ཀྱང་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

अधिमुक्ति भूमि में तो अधिमुक्ति के अधीन प्रवृत्त होने की अवस्था है, न कि अभिसंस्कार के द्वारा उस ज्ञान के उत्पन्न होने पर (उसमें) साक्षात् प्रवेश होता है । इस प्रकार (बोधिसत्त्व) प्रथम भूमि में प्रवेश होकर, बाद में भावना मार्ग में लोकोत्तर तथा इसके पृष्ठलब्ध ज्ञान दोनों के द्वारा प्रज्ञा एवं उपाय की भावना से क्रमशः, भावना के द्वारा प्रहेय सूक्ष्म से सूक्ष्मतम् सञ्चित आवरणों के शोधन के लिये और विशेष गुणों की उत्तरोत्तर प्राप्ति के लिए, बोधिसत्तव नीचे की भूमियों का परिशोधन करते हुए तथागत के ज्ञान तक में प्रवेश कर सर्वज्ञता के सागर में प्रविष्ट होते हैं और उद्देश्य की प्राप्ति के (साथ) लक्ष्य भी प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार क्रमशः चित्त-संतति की परिशुद्ध होना **आर्यलङ्कावतार (सूत्र)** में कहा गया है ।

འཕགས་པ་དགོངས་པ་ངེས་པར་འགྲེལ་པ་ལས་ཀྱང་། "རིམ་གྱིས་ས་གོང་མ་གོང་མ་རྣམས་སུ་གསེར་ལྟ་བུར་སེམས་རྣམ་པར་སྦྱོང་ལ་བླ་ན་མེད་པ་ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་བར་དུ་མངོན་པར་རྫོགས་པར་འཚང་རྒྱའོ།" །ཞེས་གསུངས་སོ།།

आर्य सन्धिनिर्मोचन (नामक महायान सूत्र) में भी कहा गया है—"क्रम से उत्तरोत्तर (बोधिसत्त्व) भूमियों में स्वर्ण की भाँति चित्त को विशुद्ध करके अनुत्तर-सम्यग्-सम्बोधि यावत अभिसम्बुद्ध हो जायेगा ।"

ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པ་ཉིད་ཀྱི་རྒྱ་མཚོར་ཞུགས་པ་ན་ཡིད་བཞིན་གྱི་ནོར་བུ་ལྟ་བུར་སེམས་ཅན་མཐའ་དག་ཉེ་བར་འཚོ་བའི་ཡོན་ཏན་གྱི་ཕུང་

པོ་དང་ནི་ལྡན། སྔོན་གྱི་སྨོན་ལམ་གྱི་འབྲས་བུ་ཡོད་པར་ནི་མཛད། ཐུགས་རྗེ་ཆེན་པོའི་རང་བཞིན་དུ་ནི་འགྱུར། ལྷུན་གྱིས་གྲུབ་པའི་ཐབས་སྣ་ཚོགས་དག་དང་ལྡན། སྤྲུལ་པ་དཔག་ཏུ་མེད་པ་དག་གིས་འགྲོ་བ་མ་ལུས་པའི་དོན་རྣམ་པ་ཐམས་ཅད་ནི་མཛད། ཡོན་ཏན་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་མ་ལུས་པ་རབ་ཀྱི་མཐར་ཕྱིན་པར་ནི་གྱུར། བག་ཆགས་དང་བཅས་པའི་ཉེས་པའི་དྲི་མ་མཐའ་དག་བསལ་ནས། སེམས་ཅན་གྱི་ཁམས་ཀྱི་མཐས་གཏུགས་པར་བཞུགས་པ་ཡིན་པར་རྟོགས་པ་དང་ལྡན་པས་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཡོན་ཏན་མཐའ་དག་གི་འབྱུང་གནས་ལ་དད་པ་བསྐྱེད་ལ་ཡོན་ཏན་དེ་ཡོངས་སུ་བསྒྲུབ་པའི་ཕྱིར་བདག་ཉིད་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་འབད་པར་བྱའོ།།

सर्वज्ञता के सागर में प्रवेश हो जाने पर चिन्तामणि (=ऐसा रत्न जिस से सारे इच्छाओं की पूर्ति होती है) की तरह समग्र प्राणियों के उपजीवी गुणवान काय से युक्त पूर्व प्रणिधान के सफलीकरण, महाकृपा में समरसता होकर अनाभोगिक रूप से होने वाले नाना उपायों से युक्त होता है । अपरिमित निर्मितकों द्वारा अशेष जगत् के सभी प्रकार के अर्थों का सम्पादन करता है । अशेष गुण सम्पत्तियों के प्रकर्षपर्यन्त में पहुँचा हुआ होता है, वासना-सहित समग्र दोष मलों का निराकरण (=हटा) करके सत्त्वधातु के अन्तपर्यन्त यावत विहार (=रहा) करने वाले हैं, ऐसा प्रेक्षवानों (=ज्ञानीयों) के द्वारा भगवान् बुद्ध (जो कि) समग्र (=सारे) गुणों के आकर (=खान) हैं, उनके प्रति श्रद्धा उत्पाद करके उन गुणों को (अपने में) परिपूर्णतः सिद्ध करने के लिए सभी तरह से प्रयत्न करें ।

དེ་བས་ན་**བཅོམ་ལྡན་འདས་**ཀྱིས་འདི་སྐད་དུ། "ཐམས་ཅད་མཁྱེན་པའི་ཡེ་ཤེས་དེ་ནི་**སྙིང་རྗེའི་**རྩ་བ་ལས་བྱུང་བ་ཡིན། **བྱང་**

ཆུབ་ཀྱི་སེམས་ཀྱི་རྒྱུ་ལས་བྱུང་བ་ཡིན། ཐབས་ཀྱིས་མཐར་ཕྱིན་པ་ཡིན་ནོ།།" ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།

अतः **भगवान्** (बुद्ध) **ने इस प्रकार कहा है**—"यह सर्वज्ञ ज्ञान तो **करुणा** के मूल से उत्पन्न है, **बोधिचित्त** के हेतु से उत्पन्न है । (और) **उपाय** से पर्यवसित है ।"

དམ་པ་ཕྲག་དོག་ལ་སོགས་དྲི་མ་ཐག་བསྲིངས་པ།།
ཡོན་ཏན་རྣམས་ཀྱིས་མི་ངོམས་རྒྱ་ཡི་མཚོ་འདྲ་དག།
རྣམ་པར་ཕྱེ་ནས་ལེགས་པར་བཤད་རྣམས་འཛིན་བྱེད་དེ།།
ངང་པ་རབ་དགའ་ཆུ་ལས་འོ་མ་ལེན་པ་བཞིན།།

सत्पुरुष (=बुद्धिमान) ईर्ष्या (=दूसरों की सफलता को देखकर जलन) आदि मलों को दूर करके,
गुणों से अतृप्त रहते हैं जैसे पानी से समुद्र (अतृप्त रहते हैं),
(बुद्धिमान पुरुष) विवेक से (=परख करके) सुभाषितों (=अच्छे वचनों) को ग्रहण करते हैं ।
जैसे कि हंस सहर्ष पानी से दूध ले लेते हैं ।। १ ।।

དེ་ལྟ་བས་ན་མཁས་རྣམས་ཀྱིས།།
ཕྱོགས་ལྷུང་དཀྲུགས་ཡིད་རིང་སྤྲོངས་ལ།།
བྱིས་པ་ལས་ཀྱང་ལེགས་བཤད་པ།།
ཐམས་ཅད་བླང་བ་པོ་ནར་བྱ།།

इसलिए विद्वानों को पक्षपात् से
व्याकुल मन को दूर करके,
बालकों (=बच्चों या जो विद्वान्
नहीं हैं, अर्थात् साधारण व्यक्तियों)
से भी सभी सुभाषितों (=अच्छे वचनों) को,
ग्रहण करना चाहिए ।। २ ।।

དེ་ལྟར་དབུ་མའི་ལམ་བཤད་པས།།
བདག་གིས་བསོད་ནམས་གང་ཐོབ་པ།།
དེ་ཡིས་སྐྱེ་བོ་མ་ལུས་པ།།
དབུ་མའི་ལམ་ནི་ཐོབ་པར་ཤོག།

इस प्रकार मध्यमक (=बीच के) मार्ग को कहने से,
मैने[१] जो पुण्य प्राप्त किया है,
उस (पुण्य) से अशेष जनों (=एक भी नहीं छूट कर सभी लोगों) को
मध्य-मार्ग की प्राप्ति हो ।। ३ ।।

སྒོམ་པའི་རིམ་པ་ཨཱཙཱརྻཀམལཤཱིལས་བར་དུ་མཛད་པ་རྫོགས་སོ།། ॥

आचार्य कमलशील द्वारा मध्य में विरचित (=द्वितीय) भावना क्रम समाप्त हुआ ।

རྒྱ་གར་གྱི་མཁན་པོ་པྲཛྙཱ་ཝརྨ་དང་། ལོ་ཙཱ་བ་བནྡེ་ཡེ་ཤེས་སྡེས་བསྒྱུར་ཅིང་ཞུས་ཏེ་གཏན་ལ་ཕབ་པའོ།། ॥

भारतीय उपाध्याय प्रज्ञावर्म और भोट लोचावा भदन्त ज्ञान सेन द्वारा अनूदित, सम्पादित एवं निरूपित किया गया ।

---

१. ग्रन्थकार आचार्य कमलशील ।

परिशिष्ट

त्रिरत्न शरण गमन.....དཀོན་མཆོག་གསུམ་ལ་སྐྱབས་སུ་འགྲོ་ཚུལ་ནི།

गुरुं शरणं गच्छामि ।
बुद्धं शरणं गच्छामि ।
धर्मं शरणं गच्छामि ।
सघं शरणं गच्छामि ।

བླ་མ་ལ་སྐྱབས་སུ་མཆིའོ།།
སངས་རྒྱས་ལ་སྐྱབས་སུ་མཆིའོ།།
ཆོས་ལ་སྐྱབས་སུ་མཆིའོ།།
དགེ་འདུན་ལ་སྐྱབས་སུ་མཆིའོ།།

नमः शाक्यमुनये तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय ।
བླ་མ་སྟོན་པ་བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་དགྲ་བཅོམ་པ་ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས་དཔལ་རྒྱལ་བ་ཤཱཀྱ་ཐུབ་པ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ། །མཆོད་དོ་སྐྱབས་སུ་མཆིའོ།།

स्वल्पाक्षर प्रज्ञापारमिता में कहा गया धारणी.....ཤེར་ཕྱིན་ཡི་གེ་ཉུང་ངུ་ལས་གསུངས་པའི་གཟུངས་ནི། (ཐུབ་པའི་མཚན་སྔགས། मुनि नाम धारणी)

तद्यथा । ओं मुने-मुने महामुनये स्वाहा ।।

ཏདྱཐཱ། ཨོཾ་མུ་ནེ་མུ་ནེ་མ་ཧཱ་མུ་ན་ཡེ་སྭཱཧཱ།

शताक्षरी ཡིག་བརྒྱ་ནི་.(..རྡོར་སེམས་བཟླས་པ་.वज्रसत्व जप)

ॐ वज्रसत्व समयमनुपालय वज्रसत्वत्वेनोपतिष्ठ दृढो मे भव, सुतोष्यो मे भव, सुपोष्यो मे भव, अनुरक्तों मे भव, सर्वसिद्धिं मे प्रयच्छ

सर्वकर्मसु च मे चित्तं श्रेयः कुरु हुँ ह ह ह ह हो भगवन् सर्वतथागत वज्र मा मे मुञ्चवज्री भव महासमय सत्व आः ।।

ཨོཾ་བཛྲ་ས་ཏྭ་ས་མ་ཡ། མ་ནུ་པཱ་ལ་ཡ། བཛྲསཏྭ་ཏེ་ནོ་པ། ཏིཥྛ་དྲི་ཌྷོ་མེ་བྷ་ཝ། སུ་ཏོ་ཥྱོ་མེ་བྷ་ཝ། སུཔོཥྱོ་མེ་བྷཝ། ཨ་ནུ་རཀྟོ་མེ་བྷ་ཝ། སརྦ་སིདྡྷི་མེ་པྲ་ཡ་ཙྪ། ས་རྦ་ཀརྨ་སུ་ཙ་མེ་ཙི་ཏྟ་ཤྲེ་ཡཿ ཀུ་རུ་ཧཱུྃ་ཧ་ཧ་ཧ་ཧ་ཧོཿ བྷ་ག་ཝཱན་སརྦ་ཏ་ཐཱ་ག་ཏ་བཛྲ་མཱ་མེ་མུཉྩ་བཛྲཱི་བྷ་ཝ་མ་ཧཱ་ས་མ་ཡ་ས་ཏྭ་ཨཱཿ

ॐ वज्रसत्त्व हुँ आः ।।
ཨོཾ་བཛྲ་ས་ཏྭ་ཧཱུྃ་ཨཱཿ

अपरमिता-आयु-धारणी ...ཚེ་གཟུངས་ནི།

ॐ नमो भगवते अपरमितायु ज्ञानसुविनिश्चित तेजोराजाय तथागतायाऽर्हते सम्यकसंबुद्धाय तद्यथा । ओं पुण्ये पुण्ये महा पुण्ये अपरमित पुण्ये अपरमित पुण्ये ज्ञानसंभारोपचिते ओं सर्व संस्कार परिशुद्धे धर्मते गगन समुद्गते स्वभाव विशुद्धे महानय परिवारे स्वाहा ।।

ཨོཾ་ན་མོ་བྷ་ག་ཝ་ཏེ། ཨ་པ་རི་མི་ཏ་ཨ་ཡུ་ཛྙཱ་ན་སུ་བི་ནི་ཤྩི་ཏ་ཏེ་ཛོ་རཱ་ཛཱ་ཡ། ཏ་ཐཱ་ག་ཏ་ཡ། ཨརྷ་ཏེ་ས་མྱཀྶཾ་བུདྡྷཱ་ཡ། ཏ་དྱ་ཐཱ། ཨོཾ་པུཎྱེ་པུཎྱེ། མ་ཧཱ་པུཎྱེ། ཨ་པ་རི་མི་ཏ་པུཎྱེ། ཨ་པ་རི་མི་ཏ་པུཎྱ་ཛྙཱ་ན་སཾབྷཱ་རོ་པ་ཙི་ཏེ། ཨོཾ་སརྦ་སཾསྐཱ་ར་པ་རི་ཤུདྡྷེ་དྷརྨ་ཏེ་ག་ག་ན་ས་མུ་དྒ་ཏེ་སྭ་བྷཱ་བ་བི་ཤུདྡྷེ་མ་ཧཱ་ན་ཡ་པ་རི་ཝཱ་རེ་སྭཱ་ཧཱ།

मञ्जुश्री धारणी..........འཇམ་དཔྱངས་ཀྱི་གཟུངས།

ॐ अ र प च न धीः ।
ཨོཾ་ཨ་ར་པ་ཙ་ན་དྷཱིཿ

आर्यावलोकितेश्वर के षडक्षरी..........ཡི་གེ་དྲུག་མ་ནི།

ॐ मणिपद्मे हूँ ।।
ཨོཾ་མ་ཎི་པདྨེ་ཧཱུྃ།།

आर्यतारा के मूल धारणी........རྗེ་བཙུན་འཕགས་མ་སྒྲོལ་མའི་རྩ་སྔགས་ནི།།

ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा ।।
ཨོཾ་ཏཱ་རེ་ཏུ་ཏྟཱ་རེ་ཏུ་རེ་སྭཱ་ཧཱ།།

गुरुपद्मसम्भव नामधारणी...........གུ་རུའི་མཚན་སྔགས་ནི།

ॐ आः हुँ वज्रगुरुपद्मसिद्धि हुँ
ཨོཾ་ཨཱཿ་ཧཱུྃ་བཛྲ་གུ་རུ་པདྨ་སིདྡྷི་ཧཱུྃ༔

प्रज्ञापारमिता धारणी........ཤེས་རབ་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པའི་སྔགས།

तद्यथा ओं गते-गते पारगते, पारसंगते बोधि स्वाहा ।
ཏདྱཐཱ། ཨོཾ་གཏེ་གཏེ་པཱ་ར་གཏེ་པཱ་ར་ས་གཏེ་བོ་དྷི་སྭཱ་ཧཱ།།

वज्रविदारण धारणी.......རྡོ་རྗེ་རྣམ་པར་འཇོམས་པའི་གཟུངས་ནི།

नमश्चन्द्र वज्रक्रोध ह्यग्रीव हुलु हुलु तिष्ठ तिष्ठ भन्द भन्द हन हन अमृते हुँफट् स्वाहा ।।
ནམ་ཙཎྜ་བཛྲ་ཀྲོ་དྷཱ་ཡ། ཧུ་ལུ་ཧུ་ལུ། ཏིཥྛ་ཏིཥྛ། བནྡྷ་བནྡྷ། ཧ་ན་ཧ་ན། ཨ་མྲྀ་ཏེ་ཧཱུྃ་ཕཊ། སྭཱ་ཧཱ།

*

बुद्धवचनः

सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा ।
स्वचित्तपर्यवदापनं एतद् बुद्धानां शासनम् ।।

སྡིག་པ་ཅི་ཡང་མི་བྱ་ཞིང་།
དགེ་བ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པར་བྱ།
རང་གི་སེམས་ནི་ཡོངས་སུ་འདུལ།
འདི་ནི་སངས་རྒྱས་བསྟན་པ་ཡིན།

सभी पापों को न करना,
पुण्यों का संचय करना,
अपने चित्त को परिशुद्ध करना
यही बुद्धों का शासन (=शिक्षा) है ।

Commit not one unwhole some deed,
But gather a wealth of virtue,
Subdue your mind in its entirety,
This is the teaching of Buddha.

●